आधुनिक गद्य-संग्रह

सम्पादक

डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल

पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, डी० ए० वी० कालेज, कानपुर
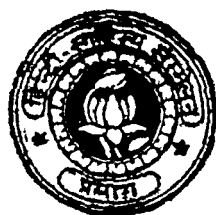
शक संवत् १९०१ : सन् १९७९ ई०

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

प्रकाशक
जगदीश स्वरूप
आदाता, हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग

द्वितीय संस्करण : २२०० प्रतियाँ
शक १९०१ : सन् १९७९ ई०
मूल्य : पाँच रुपये पचास पैसे

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
प्रयाग

प्रकाशकीय

स्नातक कक्षाओं के पाठ्यक्रम के अनुसार हिन्दी-गद्य के विकास-क्रम का दिग्दर्शन कराने वाली कृतियों का एक प्रतिनिधि संकलन सम्पादित करने का अनुरोध सम्मेलन ने हिन्दी के यशस्वी विद्वान्-समीक्षक डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल से किया था। शुक्ल जी द्वारा सम्पादित यह संकलन सम्मेलन की मान्यताओं के सर्वथा अनुरूप तथा विद्वत्ता एवं खोजपूर्ण भूमिका के साथ सब प्रकार से उपादेय है। हिन्दी-गद्य के प्रमुख शैलीकारों एवं सुलेखकों की प्रतिष्ठित तथा चर्चित कृतियों का चयन करके संकलनकर्त्ता डॉ० शुक्ल ने अपनी साहित्यिक सुरुचि का परिचय दिया है।

आशा है, हिन्दी-गद्य-साहित्य के ऐतिहासिक विकास-क्रम की दृष्टि से प्रस्तुत इस संकलन के द्वितीय संस्करण से भी पाठकों की जिज्ञासा-तृप्त होगी।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग

जगदीश स्वरूप
आदाता

विषय-सूची

भूमिका

⊙⊙

हिन्दी गद्य का विकास

हिन्दी-गद्य आधुनिक युग की देन है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हिन्दी-गद्य का प्रयोग आधुनिक युग से पूर्व नहीं मिलता है। वस्तुतः हिन्दी-भाषा के गद्य के स्वरूप की झलक हमें ७०० वर्षों से पूर्व भी देखने को मिलती है। पर उस समय के गद्य का स्वरूप, भाषा एवं रचना की दृष्टि से न तो सुव्यवस्थित है और न प्रवाहमय। फलस्वरूप उसमें प्राञ्जलता तथा रोचकता दोनों का अभाव है। हिन्दी-भाषा के गद्य को एक निश्चित दिशा तथा सुव्यवस्थित रूप उन्नीसवी शती से मिलना प्रारम्भ हुआ। इसी शती में साहित्यिक हिन्दी गद्य के विकास का क्रमवद्ध इतिहास प्राप्त होता है। अतः यदि हम यह कहें कि हिन्दी-गद्य आधुनिक युग की देन है तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी।

आधुनिक युग के क्रमवद्ध तथा सुव्यवस्थित गद्य से पूर्व हिन्दी-भाषा के गद्य-साहित्य के दो रूप मिलते हैं। ये दो रूप हैं—राजस्थानी गद्य तथा ब्रजभाषा गद्य। अतः आधुनिक युग के हिन्दी गद्य साहित्य के विकास को समझने से पूर्व, हिन्दी-गद्य के इन दोनों प्रारम्भिक रूपों का परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

राजस्थानी गद्य—दसवीं शती से लेकर १४वीं शती तक साहित्यिक गतिविधियों का केन्द्र राजस्थान रहा है। राजस्थानी लेखकों ने, जिनमें चारण तथा भाट प्रमुख थे, पद्य के साथ-साथ गद्य में भी रचनाएँ कीं। गद्य की इन रचनाओं के लिए उन्होंने विविध विषय लिए, यथा—नैतिक, पौराणिक, ऐतिहासिक। अतः हम यह मान सकते हैं कि राजस्थानी-गद्य का अंकुरण दसवीं शती में ही हो गया था।

विकास क्रम की दृष्टि से राजस्थानी गद्य का प्रारम्भिक रूप संस्कृत तथा अपभ्रंश के प्रभाव से अपने को मुक्त नहीं कर सका है। इसके बाद के रूप पर ब्रजभाषा का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इतना ही नहीं, खड़ी बोली के रूपों से भी राजस्थानी गद्य प्रभावित हुआ है।

उन्नीसवीं सदी तक आते-आते राजस्थानी-गद्य अपनी उपयुक्तता खोने लगा। भारतीय समाज अंग्रेजी-संस्कृति और सभ्यता के प्रभाव को ग्रहण करने लगा। भारत की नव-चेतना की समर्थ अभिव्यक्ति में राजस्थानी गद्य सफल न होकर अपनी उपयुक्तता खो बैठा।

ब्रजभाषा-गद्य—ब्रज-भाषा गद्य का सर्वप्रथम प्रयोग गोरखपंथी योगियों के धार्मिक उपदेशों में मिलता है। कुछ व्यवस्थित ढंग का गद्य लिखने वालों में गुरु गोरखनाथ का प्रथम स्थान है।

गोरखपंथी गद्य के पश्चात् ब्रजभाषा गद्य का अपेक्षाकृत विकसित रूप सोलहवीं शताब्दी में देखने को मिलता है। ब्रजभाषा की दृष्टि से इस शताब्दी का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'श्रृंगार रस मंडल' है। इसके रचयिता श्री वल्लभाचार्य जी के सुपुत्र श्री विट्ठलनाथ जी हैं। इस पुस्तक में प्रयुक्त ब्रजभाषा-गद्य, ब्रजभाषा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हुए भी साहित्यिक ऊँचाई को स्पर्श नहीं कर पाया है।

विट्ठलनाथ जी के सुपुत्र गोकुलनाथ जी द्वारा रचित 'चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता', 'दो सौ वैष्णवों की वार्त्ता' तथा 'वन यात्रा' नामक ग्रंथों में ब्रजभाषा गद्य का अपेक्षाकृत सुगठित तथा साहित्यिक रूप देखने को मिलता है।

ब्रजभाषा गद्य, इस समय, विकास के पथ पर अग्रसर हो रहा था। विकास के इस प्रवाह को गति प्रदान करने में श्री नाभादास, श्री वैकुण्ठमणि शुक्ल, श्री सूरति मिश्र आदि ने बड़ी सहायता की।

इसके अतिरिक्त ओरछा नरेश महाराज जसवंत सिंह के आश्रित विद्वान् वैकुण्ठमणि शुक्ल का, सं० १६८० के लगभग लिखा गया 'अगहन-

माहात्म्य' तथा 'वैशाख-माहात्म्य' एवं सं० १६६७ में प्रणीत श्री सूरति मिश्र की 'बैताल पचीसी' भी ब्रजभाषा गद्य के विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

इसके पश्चात् संवत् १८०० (१८वीं शती का उत्तरार्द्ध) ब्रजभाषा गद्य की कतिपय मुख्य और निश्चित धाराओं के दर्शन कराता है—

१. गद्य की विभिन्न विधाओं का प्रयोग।

२. टीकाओं की रचना।

ब्रजभाषा गद्य की विभिन्न विधाओं में 'नाटकों' का विशेष स्थान रहा है। ये 'नाटक' दो प्रकार के हैं—मौलिक तथा अनूदित।

इस काल के प्रमुख नाटकों में, कविवर देव रचित 'देवमाया प्रपंच', रामकवि रचित 'हनुमंत नाटक', नेवाज रचित 'शकुंतला नाटक', रीवाँ नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह रचित 'आनन्द रघुनन्दन' भारतेन्दु के पिता श्री गोपालचन्द्र (उपनाम गिरधरदास) रचित 'नहुष' नाटक उल्लेखनीय हैं।

नाटकों के अतिरिक्त इस काल में जीवनी तथा कथा की रचना का भी सूत्रपात हो गया था। सन् १७९५ के लगभग श्री हीरालाल कृत 'आईन अकबरी की भाषा वचनिका' नामक पुस्तक मिलती है।

इसमें अवधी तथा फारसी के शब्दों का प्रयोग है। यह भी ज्ञात होता है कि इस काल तक 'जीवनी' लिखने की रीति का शुभारंभ हो गया था।

इसी प्रकार इस काल में कथा लिखने की भी रीति प्रारम्भ हो गयी थी, इसके भी प्रमाण मिलते हैं। सं० १७६० के लगभग 'नासिकेतोपाख्यान' नामक पुस्तक मिलती है। यह कथात्मक शैली में रचित है।

इस काल की दूसरी मुख्य धारा है टीकाओं की परम्परा। इस काल में ब्रजभाषा मे अनेक टीकाएँ लिखी गई है। कुछ प्रसिद्ध तथा उल्लेखनीय टीकाएँ इस प्रकार है—

१. सन् १७७७ में हरिचरणदास कृत 'बिहारी सतसई की टीका' तथा सन् १७७८ मे 'कविप्रिया की टीका'। २. अयोध्या के महन्त रामचरण-

कृत 'रामायण सटीक' (सन् १७८४-१७८७)। ३. जानकीप्रसाद-कृत 'रामचन्द्रिका की टीका' (सन् १८१५)। ४. सरदार कवि कृत 'रसिकप्रिया की टीका' (सन् १८४६)। ५. सूरदास के 'दृष्टिकूट की टीका' (सन् १८४७) तथा ६. 'कविप्रिया की टीका' (सन् १८५४) इत्यादि प्रसिद्ध हैं।

इन टीकाओं के लिए प्रयुक्त भाषा मे परिमार्जन नही है। मूल अर्थ को भी प्रकट करने में इन टीकाओ की भाषा पूर्ण रूप से समर्थ नही हुई है।

इस प्रकार हम देखते हं कि राजस्थानी गद्य से कोई विशेष नवीन, उल्लेखनीय प्रगति ब्रजभाषा गद्य मे नही मिलती है। हाँ, यह बात अवश्य है कि ब्रजभाषा तक आते-आते हिन्दी भाषा के गद्य का क्षेत्रफल बढ गया एवं वह जनरुचि के अनुकूल अपने को ढालने के लिए प्रयत्नशील था, पर गद्य की अव्यवस्थितता तथा शैली की नीरसता दूर न हो सकी। हिन्दी-गद्य का यह प्रारम्भिक काल १८वी शती तक चलता रहा और फिर, १९वीं शती तक आते-आते प्रारम्भ हुआ उसके वास्तविक एवं उपयुक्त विकास का काल। हिन्दी-गद्य के इस १९वीं शती के विकास का काल है—खड़ी-बोली के विकास का काल।

खड़ीबोली-गद्य—आज खड़ी बोली को राष्ट्र-भाषा के पद पर सुशोभित होने का गौरव प्राप्त हुआ है।

इस खड़ी बोली का जन्म प्राचीन 'शौरसेनी अपभ्रंश' भाषा से है। हिन्दी खड़ी बोली के अस्तित्व का आभास ७०० ई० के उत्तरार्द्ध से ही होने लगता है। दक्षिणाचार्य चिह्नोद्योतन की 'कुवलय माला कथा' में खड़ी बोली हिन्दी गद्य का कुछ-कुछ संकेत पाया जाता है।

खड़ी बोली हिन्दी-गद्य के प्रयोग के प्रारम्भिक रूप तथा उसके सतत विकास को समझने के लिए निम्नलिखित विभाजन से सहायता मिल सकती है—

१. खड़ी बोली हिन्दी-गद्य का प्रारम्भिक प्रयोग।

२. खड़ी बोली हिन्दी-गद्य का विकासोन्मुख रूप (पूर्व भारतेन्दु-युग)।

३. खड़ी बोली हिन्दी-गद्य का विकासशील रूप (भारतेन्दु-युग)।
४. खड़ी बोली हिन्दी-गद्य का विकसित रूप (महावीरप्रसाद द्विवेदी-युग)।
५. खड़ी बोली हिन्दी-गद्य का चरमोत्कर्ष रूप (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-युग)।
६. हिन्दी-गद्य की विभिन्न विधाएँ।

हिन्दी-गद्य के विकास की इन स्थितियों का अब क्रमानुसार परिचय प्राप्त किया जायगा।

१. खड़ीबोली हिन्दी-गद्य का प्रारम्भिक प्रयोग

प्रारम्भ में खड़ी बोली का प्रयोग-क्षेत्र बहुत सीमित था। मेरठ के आस-पास का प्रदेश इसका प्रयोग-क्षेत्र था। मुसलमान-शासकों द्वारा दिल्ली को केन्द्र बनाए जाने पर यहाँ की भाषा अर्थात् खड़ी बोली उनके द्वारा अपनायी गयी। देश में मुसलमान शासकों का प्रभाव फैलने के साथ-साथ खड़ी-बोली का भी प्रसार होने लगा, क्योंकि खड़ी बोली के बोलने वालों का विस्तार देश के एक विस्तृत भू-भाग पर होने लगा। यहाँ पर एक महत्त्वपूर्ण बात पर ध्यान देना आवश्यक है। वह यह कि अरब फारस इत्यादि देशों से आए हुए सैनिकों तथा यहाँ के निवासियों के मध्य पारस्परिक विचार-विनिमय के लिए एक माध्यम भाषा की समस्या थी। क्योंकि यहाँ के निवासी न तो उन विदेशी सैनिको की अरबी, फारसी भाषा से परिचित थे और न वे यहाँ की हिन्दी से। फलस्वरूप परस्पर विभिन्न भाषाओं से, दोनों लोगों ने कुछ-कुछ शब्दों को लेकर विचार-विनिमय का एक माध्यम बना लिया। इस प्रकार मुसलमानों द्वारा एक खिचड़ी भाषा का प्रयोग प्रारम्भ हुआ जो उर्दू के नाम से प्रसिद्ध हुई। ध्यान देने योग्य विशेषता यह है कि प्रारम्भ में इस उर्दू भाषा का ढाँचा खड़ी-बोली का ही था, 'बाहरी रंग-रोगन अरबी, फारसी का'। कालान्तर में मुसलमानों ने

इसे अपनी संस्कृति के प्रचार तथा प्रसार का माध्यम बनाया तथा बड़ी तेजी के साथ 'उर्दू' की एक ऐसी 'इमारत' खड़ा करने में जुट गए जिसमें अरबी तथा फारसी के शब्दों का ईंट-गारा लगा हो। केवल शब्द ही नही, अपितु उस 'इमारत' की सजावट भी अरबी-फारसी के व्याकरण से की गयी।

इस प्रकार खड़ी-बोली के दो रूप हो गए—हिन्दी तथा उर्दू। पर इनके अतिरिक्त एक तीसरा रूप भी सामने आया और वह था 'हिन्दुस्तानी' का। खड़ी-बोली का यह हिन्दुस्तानी रूप, अंग्रेजों की कृपा का प्रसाद था जिसका मूल कारण राजनीतिक था। खडी-बोली का यह तीसरा रूप, अंग्रेजों ने हिन्दी तथा उर्दू के शब्दों को लेकर गढ़ा था। पर इसका व्याकरण हिन्दी के आधार पर संघठित था।

इस प्रकार प्रारम्भ से ही खड़ी-बोली के तीन रूप विकसित हो गए—

१. हिन्दी, २. उर्दू तथा ३. हिन्दुस्तानी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल खड़ी बोली गद्य का प्रारम्भ गंग कवि द्वारा रचित "चंद-छंद बरनन की महिमा" से मानते है। यह गंग कवि अकबर बादशाह के समय में थे। इनका समय सं० १६२० के लगभग है।

'चंद-छंद बरनन की महिमा' नामक पुस्तक के पूर्व, कोई प्रामाणिक गद्य-लेख न प्राप्त होने के कारण अधिकांश विद्वान् इसे ही खड़ी-बोली का प्रथम गद्य लेख मानते है।

प्रथम गद्य लेख के उदाहरण के स्थान पर यदि, प्रथम परिमार्जित गद्य-लेखन का उदाहरण देखा जाए तो 'योग वाशिष्ठ' नामक पुस्तक का नाम सर्वप्रथम आएगा। इसके लेखक रामप्रसाद निरंजनी पटियाला नरेश के दरबारी थे। इन्होंने 'योग वाशिष्ठ' की रचना सन् १७४१ के लगभग की थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसे ही परिमार्जित खड़ी बोली गद्य की प्रथम पुस्तक मानते है।

'चंद-छंद वरनन की महिमा' तथा 'योग वाशिष्ठ' में प्रयुक्त खड़ी-बोली गद्य की अविच्छिन्न परम्परा के दर्शन, जनप्रहलाद कृत 'नृसिंह तापनी उपनिषद्' के हिन्दवी (खड़ी बोली) अनुवाद (१७१९ ई०) और पं० दौलतराम कृत 'जैन पद्मपुराण' के भाषानुवाद (१७६१ ई०) तथा आगे चल कर मुंशी सदासुख लाल के 'सुखसागर' में होते हैं। इनमें 'सुख सागर' के गद्य की भाषा में ही 'योग वाशिष्ठ' से परिमार्जन के दर्शन होते हैं।

खड़ी-बोली-गद्य की इसी विकास-परम्परा में मुंशी इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' का अपना विशेष महत्त्व है। इशा अल्ला खाँ उर्दू के प्रसिद्ध शायर थे। परन्तु गद्य-लेखन के क्षेत्र में उन्होंने हिन्दी के शुद्ध प्रयोग पर बल दिया।

२. खड़ी बोली हिन्दी-गद्य का विकासोन्मुख रूप (पूर्व भारतेन्दु-युग)

खड़ी-बोली गद्य के प्रारम्भिक रूप का अध्ययन करते समय एक महत्त्वपूर्ण विशेषता परिलक्षित हुई और वह यह कि उस समय के गद्य-लेखक अंग्रेजी प्रभाव मे पूर्णतः मुक्त थे। यद्यपि खड़ी-बोली गद्य के विकास में अंग्रेजों द्वारा काफी सहायता मिली थी। पूर्व भारतेन्दु-युग में वेलेजली द्वारा सन् १८०० ई० में स्थापित "फोर्ट विलियम कालेज" के द्वारा खड़ी बोली गद्य के विकास में अत्यधिक सहायता मिली थी। १८ अगस्त सन् १८०० ई० के पत्रानुसार डा० जान बी० गिल क्राइस्ट की नियुक्ति हिन्दुस्तानी भाषा के प्रोफेसर के पद पर हुई। गिल क्राइस्ट महोदय ने खड़ी-बोली की कुल तीन शैलियाँ निर्धारित कीं—

१. दरबारी या फारसी शैली २. हिन्दुस्तानी शैली तथा ३. हिन्दवी शैली।

इनमें, हिन्दुस्तानी शैली उन्हें सर्वप्रिय थी।

सन् १८२३ ई० में विलियम प्राइस महोदय हिन्दुस्तानी विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए। उन्होने कालेज की हिन्दी-भाषा सम्बन्धी नीति में

बहुत बड़ा परिवर्तन किया । उन्होंने 'हिन्दुस्तानी' के स्थान पर 'हिन्दी-खड़ी बोली' को मान्यता दी ।

'फोर्ट विलियम कालेज' में नियुक्त अधिकांश विद्वानों ने खड़ी-बोली गद्य के विकास में अपना योगदान दिया। पर उल्लेखनीय एवं महत्त्वपूर्ण योग-दान है लल्लू लाल, सदल मिश्र नामक विद्वानों का तथा ईसाई धर्म-प्रचारकों का ।

श्रीलल्लूलाल—लल्लूलाल जी का जन्म सन् १७६४ में आगरा में हुआ था। ये जाति से गुजराती ब्राह्मण थे। लल्लूलाल जी की लगभग ग्यारह रचनाओं का उल्लेख मिलता है। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध रचना 'प्रेमसागर' है। इसकी रचना इन्होंने फोर्ट विलियम कालेज के अध्यक्ष जान गिल क्राइस्ट के निर्देशानुसार की थी। इसकी रचना करते समय, लल्लूलाल जी ने, अरबी-फारसी भाषा के शब्दों का प्रयोग न करने की प्रतिज्ञा की थी। परन्तु इस प्रतिज्ञा का वह पूरी तरह निर्वाह नहीं कर सके। इसके अतिरिक्त 'प्रेमसागर' की भाषा में ब्रजभाषा का प्रभाव भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। लल्लूलाल जी के गद्य की भाषा की एक विशेषता यह भी है कि उसमें पंडिताऊपन के साथ कवित्त्वमयता भी आ जाती है, फलस्वरूप भाषा में लालित्य आ जाता है।

वस्तुतः लल्लूलाल जी के गद्य में कवित्वमयता इतनी आ गयी है कि उनका गद्य, गद्य-पद्य का मिश्रण प्रतीत होता है। पर इतने से ही गद्य के विकास मे इनके प्रयास और योगदान को कम करके नही आँका जा सकता है।

पं० सदल मिश्र—फोर्ट विलियम कालेज से सम्बन्धित हिन्दी के विद्वानों में पं० सदल मिश्र का कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है।

मिश्र जी आरा जिले के निवासी थे। उनकी रचनाओं में 'चंद्रावती' अथवा 'नासिकेतोपाख्यान' (१८०३ ई०), 'रामचरित्र' (अध्यात्म रामायण का अनुवाद, १८०६ ई०) तथा 'हिन्दी-पर्शियन वोकेबुलरी'

(१८०९ ई०) विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इनमें भी, 'चन्द्रावली' का हिन्दी गद्य के विकास में एक विशिष्ट स्थान है। यह 'चन्द्रावली' नासिकेतोपाख्यान' का अनुवाद है, जिसे उन्होने फोर्ट विलियम कालेज के अध्यक्ष गिल क्राइस्ट महोदय की प्रेरणा से किया था।

इनकी भाषा में न तो इंशा अल्ला खाँ की भाषा का फारसी-अरबी रूप है और न लल्लूलाल जी की भाषा का पंडिताऊपन। आरा जिले के निवासी होने के कारण उनकी भाषा पर विहारी के साथ-साथ वंगला भाषा का भी प्रभाव देखने को मिलता है। इसके साथ ही कुछ पूर्वी वोलियों के शब्दों के प्रयोग से भी ये नहीं वच सके हैं। फिर भी उनकी भाषा परिमार्जित गद्य की विशेषताओं को अधिक आत्मसात् कर सकी है।

ईसाई धर्म-प्रचारकों का योगदान

हिन्दी-प्रदेश में ईसाई धर्म-प्रचारकों का प्रवेश अंग्रेजी शासन के स्थापित होने से वहुत पूर्व हो चुका था। सन् १८१३ में "विल फोर्स एक्ट' के पारित होने से ईसाइयों को अपने धर्म का प्रचार करने की अनुमति मिल गयी। तव से ईसाई धर्मप्रचारकों ने भारत के प्रमुख नगरों को अपने कार्य का केन्द्र वनाया और इनका प्रचार पूर्ण भारत में प्रारम्भ हुआ।

इन धर्मप्रचारको को जनसाधारण की वोली मे ही अपने धर्म के तत्त्वों की व्याख्या करनी पड़ती थी जिससे उसके प्रचार एवं प्रसार को विस्तार मिल सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होने हिन्दी-गद्य की उस परम्परा को ग्रहण किया जो रामदास निरंजनी, सदासुखलाल, लल्लूलाल द्वारा व्यवहृत होती हुई विकसित हुई थी।

धर्म-प्रचार के लिए ईसाइयों ने 'वाइविल' का अनुवाद कराया। १८०९ ई० में हेनरी मार्टिन ने वाइविल का हिन्दी और उर्दू दोनो भाषाओं में अनुवाद किया। इस अनुवाद का ऐतिहासिक महत्त्व है।

२ खड़ीबोली हिन्दी-गद्य का विकासशील रूप (भारतेन्दु-युग)

पूर्व भारतेन्दु युग का अध्ययन करने पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि खडी बोली गद्य का परिष्कार, भाषा का गठन तो प्रारम्भ हो चला था, पर हिन्दी गद्य को एक सुनिश्चित रूप तब भी प्राप्त नही हो सका था। उस समय तक गद्य लिखने की एक परिपाटी-सी तो बन गयी थी पर हिन्दी की एक निश्चित शैली नही बन सकी थी। यह कार्य तो आगे चल कर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के द्वारा पूर्ण होना था। उस समय के लेखकों में उल्लेखनीय है—राजा द्वय अर्थात् राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द तथा राजा लक्ष्मण सिह। इनके अतिरिक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साथ, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त। अतः भारतेन्दु-युग में हिन्दी गद्य के 'स्वरूप' को समझने के लिए इन्हीं विद्वानों के कार्यों का मूल्यांकन उपयुक्त रहेगा।

राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' (१८२३-१८९५ ई०)—राजा शिवप्रसाद, काशी के नरेश थे। हिन्दी-गद्य के विकास में इनका जो योगदान है, उसका अपना महत्त्व है। हिन्दी-गद्य की भाषा के सम्बन्ध में इनके तीन दृष्टिकोण मिलते है—

पहला तो तत्सम शब्द मिश्रित शुद्ध खड़ी बोली हिन्दी का रूप, दूसरा चलताऊ व्यावहारिक सरल हिन्दी का रूप तथा तीसरा अरबी-फारसी शब्द मिश्रित उर्दूपन से युक्त भाषा।

राजा शिवप्रसाद की प्रारम्भिक कृतियों में हमें भाषा के प्रथम रूप के दर्शन होते है, अर्थात् इन्होने संस्कृतनिष्ठ हिन्दी भाषा का प्रयोग किया है। इस दृष्टि से उल्लेखनीय पुस्तके हैं—'मानवकर्म सार', 'उपनिषद्सार' तथा 'योग-वाशिष्ठ' के चुने हुए कुछ श्लोक।

राजा साहब के 'गद्य' की भाषा में दूसरा परिवर्त्तन देखने को मिलता है व्यावहारिक सरल हिन्दी का। इस भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दो का आग्रह समाप्त हो गया था। इस भाषा में, राजा साहब ने, विदेशी भाषाओं

के शब्दों का भी प्रयोग किया है। प्रारम्भ में उनकी नीति इसी प्रकार की भाषा से सम्बन्धित थी। उनकी कृति 'भूगोल हस्तामलक' में उनकी भाषा का यही द्वितीय रूप मिलता है।

परन्तु आगे चल कर राजा शिवप्रसाद की भाषा-विषयक नीति में पर्याप्त परिवर्त्तन आ गया। तत्कालीन युग की साम्प्रदायिक तथा राजनीतिक आँधी के सामने गद्य-विषयक उनका पूर्ण रूप टिक न सका। उर्दू के प्रति उनका आकर्षण बढ़ता ही गया। यह मोह यहाँ तक बढ़ा कि उन्होंने 'इतिहास तिमिरि नाशक' की भूमिका में उर्दू को मातृभाषा घोषित कर दिया था।

राजा लक्ष्मण सिंह—राजा शिवप्रसाद की उर्दू विषयक नीति की प्रतिक्रिया स्वरूप राजा लक्ष्मण सिंह एक सर्वथा विपरीत भाषा-विषयक आदर्श लेकर आए। उन्होंने संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का पक्ष लिया। भाषा के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए उनका यह कथन सहायक सिद्ध होगा—

"हमारे मत में हिन्दी और उर्दू दो बोली—न्यारी-न्यारी हैं। हिन्दी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और फारसी पढ़े हुए हिन्दुओं की बोलचाल है। हिन्दी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं, उर्दू में अरबी-फारसी के, परन्तु कुछ आवश्यक नहीं है कि अरबी-फारसी के शब्दों के बिना हिन्दी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिन्दी कहते हैं जिसमें अरबी-फारसी के शब्द भरे हैं।"

—(रघुवंश विज्ञापन, पृ० २-३)

'शकुन्तला', 'रघुवंश' तथा 'मेघदूत' इन तीनों के अनुवाद उनकी इस भाषा सम्बन्धी नीति को पुष्ट करते हैं।

उर्दू के रंग में रंगे युगीन वातावरण में राजा लक्ष्मण सिंह ने बड़ी निष्ठा के साथ हिन्दी के विशुद्ध रूप की रक्षा का प्रयत्न किया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—काशी के धनाढ्य परिवार में आपका जन्म

हुआ था। पैंतीस वर्ष की अल्पायु में ही हिन्दी साहित्य को जो समृद्धि दी है, उसके लिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का नाम सदैव स्मरणीय रहेगा। आपने हिन्दी-गद्य को ऐसी सुनिश्चित तथा स्वस्थ परम्परा दी, जिसका सहारा लेकर हिन्दी आज भी निरन्तर विकास के पथ पर बढ़ती ही जा रही है।

भारतेन्दु के पूर्व हिन्दी का रूप विरोधीमतों की खींचतान में, डावाँडोल हो रहा था। दो एकदम विरोधी नीतियों के मध्य हिन्दी का स्वरूप निश्चित दिशा नहीं पा रहा था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने संस्कृत-निष्ठ तथा अरबी-फारसी मिश्रित, इन दोनों अतिवादी हिन्दी के स्वरूपों से दूर रहकर हिन्दी के सच्चे स्वरूप को पहचाना तथा प्रतिष्ठित किया। 'हिन्दी-भाषा' नामक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचना उनके हिन्दी-गद्य विषयक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने में बहुत सहायक है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र विकसित तथा परिमार्जित हिन्दी का जन्म अपने ही काल से मानते हैं। उनकी 'काल-चक्र' नामक पुस्तक में यह लिखा मिलता है कि "हिन्दी नयी चाल में ढली" (सन् १८७३ ई०)।

भारतेन्दु जी के गद्य पर पूर्वी हिन्दी तथा ब्रज का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उन्ही के समय हिन्दी गद्य को एक व्यावहारिक रूप मिला। शब्द-ग्रहण करने की क्षमता का उसमे अद्भुत विकास हुआ। अंग्रेजी के नाना शब्दो का प्रयोग हिन्दी-गद्य मे होने लगा। इसके साथ ही हिन्दी-गद्य की अभिव्यजना शक्ति भी बढ़ने लगी थी। नए-नए विचारो को वहन करने की शक्ति भी हिन्दी मे आ गयी थी।

बालकृष्ण भट्ट—भट्ट जी का जन्म प्रयाग में हुआ था। अपने पूर्ववर्ती हिन्दी-गद्य के स्वरूप को लेकर आप क्षुब्ध रहा करते थे और निराश होकर आपने 'हिन्दी प्रदीप' नामक पत्र निकाला। जिसका उद्देश्य सुव्यवस्थित हिन्दी-गद्य का प्रचार करना था। इस पत्र को आप बत्तीस वर्ष तक आर्थिक हानि सह कर भी निकालते रहे।

भट्ट जी के हिन्दी-गद्य की भाषा संस्कृत मिश्रित रही है। पर इन्हें

अन्य भाषाओं से चिढ़ नहीं थी। उन्होंने अंग्रेजी-भाषा के शब्दों का भी प्रयोग किया है। मुहावरों तथा लोकोक्तियों के प्रयोग की प्रवृत्ति भी थी।

प्रतापनारायण मिश्र—मिश्र जी कानपुर निवासी थे। यहीं इनका जन्म हुआ था। आपने 'ब्राह्मण' नामक एक पत्रिका निकाली थी। इस 'पत्रिका' के माध्यम से आप हिन्दी-गद्य के स्वरूप को निखारने में अनवरत परिश्रम करते रहे। जहाँ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी भाषा को अधिक से अधिक शिक्षित-वर्ग के लिए उपयुक्त बनाने की चेष्टा की, वहीं मिश्र जी ने भाषा को ग्रामीणता का रंग देना चाहा।

प्रतापनारायण मिश्र जी का हिन्दी-गद्य स्वच्छन्दता को लिए हुए है। अतः आपके गद्य की भाषा उदार है और निस्संकोच रूप से यथावसर अरबी, फारसी तथा अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग किया है।

इनकी भाषा में हास्य तथा व्यंग्य का बहुत सुन्दर तथा निखरा हुआ रूप देखने को मिलता है। उसको प्रभावपूर्ण बनाने के लिए इन्होंने मुहावरों तथा लोकोक्तियों का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक किया है।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त—'भारतेन्दु' की परम्परा को आगे बढ़ाने वाले गद्य-लेखकों में बाबू बालमुकुन्द गुप्त का विशेष स्थान है। यह भारतेन्दु तथा द्विवेदी-युग को जोड़ने वाली कड़ी थे।

हिन्दी-गद्य को व्यावहारिकता प्रदान करने, उसकी शैली को सुगठित पैनी, प्रवाहमयी बनाने में आपका विशेष स्थान है।

आपके गद्य की भाषा साधारणतः हिन्दी-उर्दू मिश्रित है। आपने यथावसर अंग्रेजी के शब्दों का भी प्रयोग किया है। मुहावरो तथा कहावतों के प्रयोग ने आपकी भाषा को रुचिपूर्ण तथा प्रभावमयी बना दिया है।

इस प्रकार हम देखते है कि भारतेन्दु युग में हिन्दी-गद्य के रूप में स्थायित्त्व आने लगा था। उसकी भाषा का रूप व्याकरण-सम्मत होने लगा था। मुहवरो तथा कहावतो के प्रयोग से हिन्दी-गद्य को आकर्षक-प्रवाहमय बनाया जा रहा था। 'गद्य' में काव्यात्मकता आने लगी थी।

इसके साथ ही पहली बार हिन्दी गद्य का व्यावहारिक रूप देखने को मिलता है।

४. खड़ीबोली हिन्दी-गद्य का विकसित रूप—(आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी-युग)

आचार्य द्विवेदी के पूर्व, विकासोन्मुख हिन्दी-गद्य अनेक त्रुटियों से पूर्ण था। इनमें प्रमुख कमी तो यह थी कि हिन्दी-गद्य लेखकों के गद्य में एकरूपता का अभाव था। दूसरे, व्याकरण की स्थिति डावाँडोल थी। ऐसे समय में द्विवेदी जी का हिन्दी-साहित्य के विस्तृत गगन-मण्डल पर आविर्भाव हुआ। शनैः शनैः यह बाल-अरुण, देदीप्यमान्, तेजोमय 'सूर्य' में बदल गया; जिसके प्रखर प्रकाश के सम्मुख हिन्दी-गद्य की छोटी से छोटी भूल भी ओझल न रह सकी। उन्होंने न केवल 'गद्य' की 'भाषा' को व्याकरण सम्मत बनाया, अपितु इसकी अस्थिरता की ओर लेखकों का ध्यान आकृष्ट किया। इतना ही नहीं, उन्होंने उस समय की हिन्दी-गद्य की प्रमुख न्यूनता अर्थात् एकरूपता के अभाव को दूर करने का प्रयत्न किया। 'सरस्वती' पत्र का सम्पादन करते हुए उन्होंने अनेक लेखकों को प्रोत्साहित किया, उनकी रचनाओं का संशोधन किया तथा समय-समय पर लेखकों के ग्रन्थों की भाषा का भी सुधार किया।

द्विवेदी-युग में, आचार्य द्विवेदी के अतिरिक्त हिन्दी-गद्य को प्रौढ़ता तथा परिमार्जन प्रदान करने वाले लेखको में पं० चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी', अध्यापक पूर्णसिंह, गणेशशंकर विद्यार्थी, शिवपूजन सहाय आदि प्रमुख है और इनके योगदान का भी विशेष महत्त्व है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदी-युग मे आकर हिन्दी-गद्य के स्वरूप को स्थिरता मिली, उसमे प्रौढ़ता आई तथा उसकी भाषा में प्रचुर परिमार्जन हुआ। गद्य की भाषा में परिष्कार होने के साथ ही साथ, उसमें सरलता तथा व्यंजना शक्ति का प्रवेश हुआ।

इस प्रकार हम कह सकते है कि हिन्दी साहित्य के उद्यान को निर्बाध

रूप से पल्लवित, पुष्पित तथा विकसित करने के लिए द्विवेदी जी ने बड़ी लगन से उसकी भूमि को उपजाऊ बनाया और यह उस उपजाऊ भूमि का ही परिणाम है कि हिन्दी-साहित्य का उद्यान निरंतर विकसित और समृद्ध होता जा रहा है।

५. खड़ी-बोली हिन्दी-गद्य का चरमोत्कर्ष काल—(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-युग)

द्विवेदी युग मे, यद्यपि हिन्दी-गद्य में परिमार्जन हो रहा था और वह परिपक्वता की ओर बढ़ रहा था, परन्तु फिर भी कुछ दुर्बलताएँ रह गई थीं। किन्तु हिन्दी-साहित्य में आचार्य शुक्ल के प्रवेश के साथ ये दुर्बलताएँ भी समाप्त हो गईं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का युग ऐसा युग था जिसमें पहली बार हिन्दी-गद्य अपनी जातीय तथा व्यक्तिगत शैली का विकास कर सका। इस जातीय शैली के विकास में अनेक भाषाओं की शैलियों का प्रभाव देखा जा सकता है। हिन्दी-गद्य को यदि एक ओर अंग्रेजी ने अभिव्यञ्जना शक्ति दी, तो बंगला में मधुरता देकर सरस बनाया, मराठी ने यदि गम्भीर रहना सिखाया तो उर्दू ने प्रवाह से युक्त किया।

आचार्य शुक्ल ने इस हिन्दी-गद्य को न केवल अपनी प्रखर प्रतिभा तथा मौलिक चिन्तन-शक्ति से परिमार्जित तथा प्रौढ़ किया बल्कि इसको उन गुणों से युक्त किया जिससे हिन्दी-गद्य एक नवीन आभा से चमक उठा। इन गुणों में प्रमुख थे—अर्थ-गाम्भीर्य, अभिव्यक्ति का संयम तथा समासत्व की शक्ति।

इस युग का गद्य गम्भीर विचारों को वहन करने में सफल हुआ, गहन चिन्तनजन्य विचारों की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति से युक्त हुआ।

६. हिन्दी-गद्य की विभिन्न विधाएँ—इस प्रकार हम यह पाते है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के पश्चात् हिन्दी-

साहित्य में आमूल परिवर्त्तन हो गया। अब हिन्दी-साहित्य का गद्य एकोन्मुखी न होकर अनेकमुखी हो गया। इस विकसित वृक्ष से कई प्रकार की शाखाएँ-प्रशाखाएँ निकलने लगीं और न केवल निकली वरन् पल्लवित तथा पुष्पित होकर पूर्णरूप से विकसित भी हुई। हिन्दी-गद्य की इन शाखा-प्रशाखाओ में मुख्य है—कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध तथा आलोचना इत्यादि।

हिन्दी-गद्य की उपर्युक्त विधाओ का सम्यक् परिचय प्राप्त करने के लिए प्रत्येक की स्वतंत्र विवेचना आवश्यक है।

कहानी—कहानी, हिन्दी-गद्य की कोई आधुनिक या नवीन विधा नही है। हाँ, यह कह सकते है कि 'कहानी' के क्षेत्र में नवीन दृष्टिकोण का प्रवेश आधुनिक-युग में ही हुआ है। नहीं तो 'कहानी' का रूप बहुत प्राचीन है। वेदों, उपनिषदों, संस्कृत तथा बौद्ध-ग्रन्थों (जातकों) में भारत का प्राचीन कथा-साहित्य प्रचुर मात्रा में मिलता है। इसके अतिरिक्त लोक जीवन से संबंधित लोकगाथाओं में भी कहानी के विविध रूपो को देखा जा सकता है, जिनका प्रभाव हिन्दी के कथा-साहित्य पर स्पष्ट रूप से पड़ा है।

१. **हिन्दी कहानी का प्रारम्भिक रूप**—हिन्दी कथा-साहित्य का यह प्राचीन रूप आधुनिक कहानी की विशेषताओं की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। अतः हिन्दी-कहानियों का प्रारम्भ विद्वान् आधुनिक-युग से मानते है और इसके लिए 'सरस्वती' नामक पत्रिका का नाम लेते है। उनके अनुसार 'सरस्वती' के प्रकाशन से ही हिन्दी-कहानियों का प्रारम्भ हुआ तथा प्रकाशन के आरम्भिक दो वर्षों में हिन्दी-कहानी की स्वरूप रचना होती रही थी। सन् १९०० में प्रकाशित 'सरस्वती' पत्रिका में कई कहानियाँ प्रकाशित हुईं। कुछ विद्वान् इसमें प्रकाशित गोस्वामी किशोरी लाल की कहानी 'इन्दुमती' से आधुनिक हिन्दी-कहानी का प्रारम्भ मानते हैं। पर इस पर शेक्सपियर के 'टेम्पेस्ट' नाटक का अत्यधिक प्रभाव है। अतः अधिकांश विद्वान्, 'सरस्वती' में प्रकाशित आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की

कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' को हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी मानते हैं। इस मान्यता का आधार उन्होंने इसके शिल्प-विधान को रखा है।

'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन के ६ वर्षों के पश्चात् हिन्दी-कहानियों में मौलिकता का सतत विकास दृष्टिगोचर होता है। इस विकास मे लाला पार्वतीनन्दन कृत 'एक के दो दो', पं० सूर्यनारायण दीक्षित कृत 'चन्द्रहास का अद्भुत आख्यान' आदि कहानियों का योगदान रहा। १९०७ ई० की 'सरस्वती' में बंग महिला-कृत 'दुलाई वाली' कहानी के प्रकाशन से हलचल मच गई। इसका महत्त्व इतना आँका गया कि अनेक विद्वानों ने इसे ही हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी के रूप में स्वीकर किया है। १९०९ ई० तथा १९१० ई० में प्रकाशित 'सरस्वती' से प्रसिद्ध उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा, अपनी कहानियों से प्रकाश में आए।

१९०९ ई० मे 'इन्दु' नामक पत्रिका के प्रकाशन से हिन्दी-कहानी के क्षेत्र मे एक नये युग का जन्म हुआ। काशी से प्रकाशित 'इन्दु' के माध्यम मे जयशकर प्रसाद जैसा बहुमुखी प्रतिभा का धनी व्यक्तित्व सामने आया। 'प्रसाद' की महत्त्वपूर्ण प्रारम्भिक कहानियाँ जैसे 'आग', 'गुलाम', 'चित्तौर-उद्धार' आदि 'इन्दु' के प्रारम्भिक वर्षों में ही प्रकाशित हुई। कहानी-क्षेत्र में 'इन्दु' पत्रिका का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य था—अन्य भाषा की कहानियों का अनुवाद प्रारम्भ करना। यह कार्य उसने बंगला-भाषा से अनूदित कहानियों के प्रकाशन से प्रारम्भ किया। इस दिशा मे प० पारसनाथ त्रिपाठी ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

हिन्दी-कहानी के प्रारम्भिक काल मे तीसरा महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन हुआ 'हिन्दी गल्पमाला' नामक मासिक पत्र के प्रकाशन से। यह पत्र १९१८ ई० में काशी से प्रकाशित हुआ था। इस पत्र से हिन्दी-कहानी के कलात्मक विकास में सहायता मिली। इसमें प्रकाशित जी० पी० श्रीवास्तव की 'मैं न बोलूंगी', इलाचन्द्र जोशी की 'सजनवां' नामक कहानियों ने हिन्दी कहनी के क्षेत्र में एक नवीन दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिकता का समावेश

"सबसे उत्तम कहानी वह होती है जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।"

हिन्दी-कहानी के इस विकास-काल में अनेक कहानीकार, प्रेमचन्द से प्रेरणा पाते रहे। इस विकास-काल की कहानियों के प्रमुख रूप से पाँच आधार मिलते है—

१. चरित्र-चित्रण की प्रधानता, २. वातावरण की प्रधानता, ३. कथानक की प्रधानता, ४. कार्य की प्रधानता तथा ५. अन्य विषयों की कहानियाँ।

इस युग में इस तरह की कहानियों की अधिकता है जिसमें चरित्र-चित्रण को प्रमुखता दी गयी है। इस प्रकार की कहानियों में 'पात्रों' का सहज एवं सुन्दर चित्रण ही कहानीकार का लक्ष्य होता है। इस प्रकार की कहानियों के सर्वश्रेष्ठ कलाकार प्रेमचन्द है। उनकी 'आत्माराम', 'बूढ़ी काकी', 'सारंधा' आदि कहानियाँ सुन्दर उदाहरण है।

वातावरण-प्रधान कहानियों का भी इस युग में विकास हुआ। इस प्रकार की कहानियों में कथानक के विकास का मूल आधार वातावरण को बनाया जाता है। इस प्रकार के वातावरण प्रधान कहानी-लेखकों में 'प्रसाद', सुदर्शन, तथा गोविन्दवल्लभ पंत प्रमुख है। इनके अतिरिक्त 'हृदयेश' तथा राधिकारमण प्रसाद सिंह का भी, इस दिशा में योगदान है। 'प्रसाद' की 'आकाशदीप', 'प्रतिध्वनि', बिसाती' आदि वातावरण-प्रधान कहानियाँ इसके सुन्दर उदाहरण है।

इनके अतिरिक्त उन कहानियों का भी पर्याप्त सृजन हुआ जिनमें कथानक की प्रधानता है। इस प्रकार के कहानीकारों में 'कौशिक', ज्वालादत्त शर्मा तथा पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का विशेष महत्त्व है।

कार्य-प्रधान कहानी में आदि से अन्त तक 'कार्य' के महत्त्व पर बल रहता है। कार्य की प्रधानता से कहानियों में तीव्रगति बनी रहती है और कथानक रोचक हो जाता है। इस प्रकार के कहानीकारों मे गोपालराम

गहमरी तथा दुर्गाप्रसाद खत्री की क्रमशः जासूसी तथा वैज्ञानिक कहानियों का विशेष महत्त्व है।

इन प्रधान वर्गों के अतिरिक्त अन्य प्रकार की कहानियाँ भी लिखी गयी। इनमें जी० पी० श्रीवास्तव, बेढब बनारसी, अन्नपूर्णानन्द आदि की हास्य-व्यंग्य प्रधान कहानियाँ तथा 'प्रसाद', आचार्य चतुरसेन शास्त्री एवं वृन्दावनलाल वर्मा की ऐतिहासिक कहानियों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

३. हिन्दी कहानियों का यथार्थवादी स्वरूप—प्रेमचन्द-युग के उत्तरार्द्ध या अन्तिम चरण में आदर्श की मनोरम कल्पना की धुंध छटने लगी थी। कहानीकार यथार्थ की भूमि पर उतरने लगे थे और कहानियों में यथार्थ के कटु और नग्न चित्रण को प्रोत्साहन मिलने लगा था। आदर्श की कल्पना में मुक्त हिलोरें लेता, उज्ज्वल भविष्य के सुन्दर स्वप्नों में झूमता कहानीकार अचानक चौंक उठता है, चारों ओर ओर देखता है और कटु लेकिन सत्य यथार्थ का सामना करता है।

यही वह यथार्थ है जिसकी तीव्रता, प्रेमचन्द-युग के कथाकार से लेकर आधुनिक युग की नई-कहानी के कलाकारों की कहानियों तक में निरंतर अभिव्यक्त होती रही है। इस यथार्थ का बोध कथाकार विभिन्न रूपों में करता है। कहीं व्यक्तिगत कुण्ठा है, अवसाद है, कहीं पीढ़ियों का संघर्ष है, कहीं पारिवारिक विघटन है, कहीं सामाजिक मूल्यों की टकराहट है और उनकी टूटन है। इन सभी का बोध कथाकार को होता है और 'कहानी' के माध्यम से इनको व्यक्त करता है।

यथार्थ की इस अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न कहानीकार, विभिन्न दृष्टिकोणों का सहारा लेते हैं। कोई कथाकार समाज के स्थापित मूल्यों, प्राचीन परम्पराओं के प्रति विद्रोही हो उठा है, कोई मनोविज्ञान से प्रभावित होकर मनोविश्लेपण को कथाकार का आधार बना रहा है, तो कोई कथाकार फ्रॉयड के यौनवाद से प्रभावित होकर हिन्दी-कहानियों को एक नवीन गति दे रहा है, तो दूसरी ओर कोई कहानीकार मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित

होकर वर्ग-संघर्ष की तीव्रता को अभिव्यक्ति दे रहा है और कहीं कोई कलाकार हिन्दी-कहानी के प्रांगण में हास्य-व्यंग्य का गुलाल उड़ा रहा है। कहने का तात्पर्य यह कि आज की हिन्दी-कहानी का क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है।

हिन्दी-कहानीकारों का एक वर्ग विद्रोही वर्ग है। इसके प्रतिनिधि पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' जी हैं। पूंजीवादी व्यवस्था, सामाजिक कुरीतियाँ, मिथ्या परम्पराएँ इनकी तीक्ष्ण लेखनी के लक्ष्य रहे हैं। इन सभी को अपनी कहानियों में आपने यथार्थ चित्रण किया है। कहीं-कहीं यह यथार्थ अति नग्न हो गया है। अपनी जोशीली तथा प्रवाहपूर्ण शैली के लिए आप प्रसिद्ध हैं। 'दोजख की आग', 'चिनगारियाँ', 'सनकी अमीर' आदि कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनकी परम्परा के एक और प्रसिद्ध कहानीकार हैं—आचार्य चतुरसेन शास्त्री। आपकी प्रसिद्ध कहानियों के प्रकाशित संग्रह—'रजकण' तथा 'अक्षत' हैं। 'उग्र' की भाँति आपकी भाषा भी बहुत ओजस्विनी तथा प्रवाहपूर्ण है।

मनोविश्लेषणात्मक भूमि पर आधारित कहानियों के प्रतिनिधि कहानीकार जैनेन्द्र हैं। इनकी कहानियों में मनोविज्ञान के छाए रहने के कारण बौद्धिक रोचकता बनी रहती है। इनका दृष्टिकोण व्यक्तिवादी तथा अध्यात्मवादी अधिक है। चरित्र-चित्रण तथा शैली को इन्होंने अधिक महत्त्व दिया है। आपकी कहानियों के अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, यथा—'वातायन', 'जयसन्धि', 'स्पर्धा' इत्यादि।

मनोविश्लेषणात्मक प्रणाली पर आधारित कहानी की रचना करने वाले कहानीकारों में जैनेन्द्र के पश्चात् प्रमुख हैं अज्ञेय तथा इलाचन्द्र जोशी। परन्तु अन्तर इतना है कि जैनेन्द्र का मनोविश्लेषण जहाँ निजी जीवन के अनुभवों पर आधारित है, वहीं अज्ञेय तथा जोशी, फ्रॉयड के यौनवाद से प्रभावित हैं। हिन्दी-कहानी के क्षेत्र में, मानव-मन की दमित वासनाओं तथा कुण्ठाओं का सजीव तथा उन्मुक्त चित्रण करने में जो सफलता अज्ञेय

तथा जोशी को मिली है, वह किसी अन्य कहानीकार को नहीं मिली है। जोशी जी के प्रसिद्ध कहानी-संग्रह हैं—'रोमांटिक और छाया', 'ऐतिहासिक कथाएँ' इत्यादि। अज्ञेय जी के प्रसिद्ध संग्रह हैं—'विपथगा', 'परम्परा', 'जयदोल' आदि।

सामाजिक विषमता, वर्ग-भेद आदि से क्षुब्ध अनेक कथाकारों का मन 'मार्क्सवाद' से प्रभावित हुआ है। जिनकी कहानियों पर मार्क्सवादी दर्शन का प्रभाव है, इन कहानीकारों में अग्रणी है यशपाल। इनकी कहानियों मे सामाजिक कुरीतियों की कटु आलोचना है। आप कला तथा जीवन मे स्वाभाविकता के पक्षपाती है। आपके प्रसिद्ध कहानी संग्रह है—'अभिशाप', 'ज्ञानदान', 'तर्क का तूफान', 'फूलों का कुर्ता' इत्यादि। यशपाल के दृष्टिकोण से मिलता-जुलता दृष्टिकोण रखने वाले दूसरे प्रसिद्ध कथाकार है उपेन्द्रनाथ अश्क। 'पिंजरा', 'पाषाण', 'डूलो', 'मोती' आदि इनकी प्रसिद्ध कहानियाँ है।

हिन्दी कहानियों मे हास्य की छटा बिखेरने वाले कथाकारो में प्रमुख है कृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'बेढब बनारसी', अन्नपूर्णानन्द, मिर्जा अजीम बेग इत्यादि। इन्होने विविध विषयों को अपने हास्य तथा व्यंग्य का आधार बनाया।

इन कहानीकारों के अतिरिक्त अनेक नयी कहानी के कहानीकार है जो हिन्दी-कहानी के विकास में निरन्तर योगदान दे रहे है। इनमें प्रसिद्ध है—राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, मोहन राकेश, मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह, निर्मल वर्मा, रामकुमार, अमृतराय, विष्णु प्रभाकर, मन्नू भण्डारी, चन्द्रकिरन सौनरिक्सा, रमेश बक्षी, हरिशंकर पारसाई, शरद जोशी इत्यादि।

उपन्यास—हिन्दी-गद्य-साहित्य के अन्य अंगो के समान उपन्यास का आविर्भाव भी आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रारम्भ अर्थात् भारतेन्दु-युग में हुआ। हिन्दी साहित्य मे उपन्यासों के आविर्भाव के पूर्व बंग-साहित्य मे

इस विधा का विकास होने लगा। बंग-साहित्य में उपन्यासों के सृजन का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर भी पड़ा।

हिन्दी उपन्यास की विकास-परम्परा को ध्यान मे रखते हुए हम इसको तीन कालो मे विभाजित कर सकते है—

(अ) पूर्व प्रेमचन्द-युग, (आ) प्रेमचन्द-युग और (इ) प्रेमचन्दोत्तर-युग।

(अ) पूर्व प्रेमचन्द-युग—प्रेमचन्द के पूर्व युग में साहित्य-चेतना की दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ देखने में आती हैं। पहली प्रवृत्ति थी मनोरंजन की तथा दूसरी सामाजिक जागरण की। उस युग की उपन्यास-रचना में इन दोनों ही प्रवृत्तियों का प्रभाव मिलता है।

पूर्व प्रेमचन्द-युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने साहित्य के अन्य अगो की श्रीवृद्धि करते हुए एक उपन्यास भी लिखना प्रारम्भ किया था किन्तु वह पूर्ण न हो सका। उस युग का महत्त्वपूर्ण उपन्यास श्रीनिवासदास-कृत 'परीक्षा-गुरु' है। महत्त्वपूर्ण इसलिए कि हिन्दी का यह सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास है। इसमें उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति अधिक है। वस्तुत. सुधारवादी दृष्टिकोण को लिए यह एक साधारण-सा उपन्यास है।

इस काल में कई प्रकार के उपन्यास लिखे गए। तिलिस्मी तथा ऐयारी पूर्ण, ऐतिहासिक, प्रेमाख्यानक, तथा सामाजिक उपन्यासों का सृजन हुआ।

१. तिलिस्मी तथा ऐयारी पूर्ण उपन्यास—इस प्रकार के उपन्यासों के क्षेत्र में देवकीनन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी तथा किशोरीलाल गोस्वामी का योगदान महत्त्वपूर्ण है। देवकीनन्दन खत्री के तिलिस्मी उपन्यास—'चन्द्रकान्ता' तथा 'चन्द्रकांता सन्तति' इतने लोकप्रिय हुए कि केवल इन्हें ही पढ़ने के लिए लोगों ने हिन्दी सीखनी प्रारम्भ की। इनके अतिरिक्त हिन्दी के प्रथम जासूसी उपन्यास-लेखक गोपालराम गहमरी के

उपन्यास भी बहुत लोकप्रिय हुए। यह सत्य है कि इन उपन्यासो मे कलात्मकता का अभाव है, पर उनके ऐतिहासिक महत्त्व को कम करके नही आँका जा सकता है।

२. ऐतिहासिक उपन्यास—इस युग में अनेक ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गए। पर इन उपन्यासो में ऐतिहासिकता का अभाव है। तिलिस्मी उपन्यासों का प्रभाव इन पर स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। इस युग के ऐतिहासिक उपन्यासकारो मे किशोरीलाल गोस्वामी, व्रजनन्दन सहाय, बलदेवप्रसाद मिश्र, कृष्णप्रकाश सिंह अखौरी आदि के नाम उल्लेखनीय है। इनमे व्रजनन्दन सहाय के 'लाल चीन' तथा मिश्र बन्धुओं के 'वीरमणि' को ऐतिहासिकता की दृष्टि से थोडा सफल कहा जा सकता है।

३. प्रेमाख्यानक उपन्यास—ऐतिहासिक उपन्यासो के अतिरिक्त इस काल में प्रेम के रूढिबद्ध वर्णन पर आधारित उपन्यास भी लिखे गए जिन्हे प्रेमाख्यानक उपन्यास की संज्ञा दी जा सकती है। इस प्रकार के उपन्यासकारो मे किशोरीलाल गोस्वामी, जगन्नाथ मिश्र, काशीप्रसाद आदि के नाम उल्लेखनीय है।

४. सामाजिक उपन्यास—सामाजिक जीवन की घटनाओं तथा जन-जीवन की समस्याओ को आधार बनाकर, सामाजिक उपन्यासो की रचना की गई। इन उपन्यासो मे बालकृष्ण भट्ट का 'सौ अजान एक सुजान', राधाकृष्णदास का 'निःसहाय हिन्दू', किशोरीलाल गोस्वामी का 'लवंगलता' आदि सामाजिक उपन्यासों के साथ 'हरिऔध' का 'अधखिला फूल' तथा लज्जाराम मेहता का 'आदर्श हिन्दू' सुधारवादी सामाजिक उपन्यास की परम्परा मे रखे जा सकते हैं।

५ अनूदित उपन्यास—इस युग में दूसरी भाषा के उपन्यासों का अनुवाद भी खूब हुआ। विशेष रूप से बंग-भाषा के उपन्यासों का अनुवाद हुआ। बग-भाषा के उपन्यासों का अनुवाद करने वालों में प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, गदाधर सिंह, कार्तिकप्रसाद खत्री आदि के

नाम महत्त्वपूर्ण है। वगला उपन्यासों के अतिरिक्त उर्दू, मराठी, गुजराती तथा अंग्रेजी भापा के अनेक उपन्यासो का भी अनुवाद हुआ।

इस प्रकार हम देखते है कि पूर्व प्रेमचन्द-युग में न केवल कई प्रकार के मौलिक उपन्यास ही लिखे गए, वरन् अन्य भापायों से अनूदित भी किए गए। इन उपन्यासों में कलात्मकता का अभाव है। अनूदित उपन्यासों का स्तर मौलिक उपन्यासो से अच्छा है।

इस युग के उपन्यासो की भापा के तीन रूप देखने को मिलते है—संस्कृत मिश्रित हिन्दी, उर्दू मिश्रित हिन्दी तथा सरल हिन्दी। शैली के भी तीन प्रकार मिलते हैं—वर्णनात्मक, आत्मकथात्मक तथा सम्भापण।

(आ) प्रेमचन्द-युग—हिन्दी-उपन्यास क्षेत्र में प्रेमचन्द के पदार्पण के साथ एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ जिसे हिन्दी उपन्यास साहित्य का समृद्ध-युग कहा जा सकता है। प्रेमचन्द वस्तुतः प्रथम मौलिक उपन्यासकार थे। इनके उपन्यासो में प्रथम वार कला का जीवन से सम्वन्ध जुडा। जनसामान्य की अनुभूतियों तथा क्रियाकलापों को हिन्दी के उपन्यासो में स्थान मिला। इस प्रकार प्रेमचन्द के उपन्यास जनसामान्य की भावना के प्रतीक वन गए।

अव तक उपेक्षित ग्रामीण-जीवन को, उसकी समस्याओं को, उसकी परिस्थितियो को, प्रेमचन्द के उपन्यासों में सही प्रतिनिधित्व मिला। उनके पात्र सभी प्रकार के है। उनमें से राजा भी है, रक भी हैं, उच्च वर्ग भी हैं, निम्न वर्ग भी है, उदात्त भी हैं, अनुदात्त भी हैं। परन्तु, प्रेमचन्द का आदर्शवादी रूप, वाद के उपन्यासों तक स्थिर न रह सका। 'सेवासदन' से 'गोदान' तक आते-आते उनके विचारों में क्रांतिकारी परिवर्त्तन हो चुके थे। उनका आदर्शोन्मुख यथार्थवाद अव यथार्थोन्मुख आदर्शवाद वन गया था। 'गोदान' उनकी इसी जीवन-दृष्टि का परिणाम है।

'सेवासदन,' 'प्रेमाश्रम', 'निर्मला,' 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'गवन', 'कर्मभूमि', 'गोदान' तथा 'मगलसूत्र' प्रेमचन्द के प्रसिद्ध उपन्यास है।

इन्ही उपन्यासो के माध्यम से प्रेमचन्द ने अपने युग की सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियो का पूर्ण चित्र अंकित किया है।

प्रेमचन्द-युग मे अन्य प्रतिभावान् उपन्यासकारों का उदय हुआ। इनमे से अधिकाश उपन्यासकारो ने प्रेमचन्द से प्रेरित और प्रभावित होकर उपन्यास का सृजन प्रारम्भ किया। इन उपन्यासकारो में विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' (माँ तथा भिखारिणी), श्रीनाथ सिंह (उलझन, क्षमा, जागरण आदि), शिवपूजन सहाय (देहाती दुनिया), चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' (मंगल प्रभात, मनोरमा), राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह (संस्कार, राम और रहीम आदि), प्रतापनारायण श्रीवास्तव (विदा, विकास इत्यादि) आदि उपन्यासकार तथा उनके उपन्यास प्रसिद्ध हैं। इन सभी उपन्यासो मे प्रेमचन्दयुगीन आदर्शवाद परिलक्षित होता है।

प्रेमचन्द-युग के ही दो अन्य उपन्यासकार—'प्रसाद' तथा सियाराम शरण गुप्त भी हैं जिनका अपना अलग महत्त्व है, क्योंकि ये प्रेमचन्द-युग की परम्परा से भिन्न हैं। जयशंकर प्रसाद के उपन्यासो, 'कंकाल', 'तितली', 'इरावती' (अधूरा उपन्यास) मे प्रेमचन्दयुगीन आदर्शवाद के स्थान पर शुद्ध यथार्थवाद का चित्रण है। इस प्रकार 'प्रसाद' के उपन्यासों में एक विचित्र विरोधाभास दृष्टिगोचर होता है। क्योंकि उनके काव्य मे नाटको मे आदर्शवाद पूर्णरूप से प्रतिष्ठित है।

सियाराम शरण के प्रथम उपन्यास 'गोद' मे प्रेमचन्द-युग की ही गांधीवादी जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति हुई है। पर अन्तर यह है कि प्रेमचन्द ने गाधीवाद के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल दिया था, और गुप्त जी के इस उपन्यास मे गाधीवादी जीवन-दर्शन की आध्यात्मिक चेतना व्यक्त हुई है। प्रेमचन्द के उपन्यासों सा आक्रोश तथा क्षोभ, गुप्त जी के उपन्यासो मे नही दिखाई देता है।

(इ) प्रेमचन्दोत्तर युग—प्रेमचन्दोत्तर-युग मे उपन्यासकारो के दो समानान्तर वर्ग कार्य कर रहे है। पहला वर्ग इन उपन्यासकारो का है जो

प्रेमचन्द-युगीन परम्परा से प्रभावित रहे हैं परन्तु बाद में जिन्होंने शीघ्र ही परिवर्त्तित होते युग के अनुरूप ही अपने को भी बदल लिया है। दूसरा वर्ग इन उपन्यासकारों का है जो स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् उपन्यास क्षेत्र में आए हैं तथा नाना सम्भावनाओं का संकेत दे रहे हैं।

प्रेमचन्दोत्तर-युग के लेखकों के उपन्यासों का वर्गीकरण करना एक कठिन कार्य है। क्योंकि इनमें से किसी भी उपन्यास में किसी एक ही प्रवृत्ति को महत्त्व नहीं दिया गया है, वरन् कई प्रवृत्तियों का समाज-चित्रण है। परन्तु सुविधा की दृष्टि से इस काल के उपन्यासों को निम्नलिखित वर्गों के अन्तर्गत रखा जा सकता है—

१. सामाजिक उपन्यास, २. ऐतिहासिक उपन्यास, ३. आंचलिक उपन्यास तथा ४. साम्यवादी उपन्यास।

१. सामाजिक उपन्यास—समाज की विषम परिस्थितियाँ, असमानता की स्थिति, निम्न मध्य-वर्ग का जीवन, प्रेम-सम्बन्ध, सामाजिक रूढ़ियाँ आदि इन सामाजिक उपन्यासों का विषय रहा है जिस प्रकार आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने 'हृदय की प्यास' नामक उपन्यास में विधवाश्रमों में किए जाने वाले दुराचारों का नग्न चित्रण किया है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का 'गिरती-दीवारें' निम्न मध्य-वर्ग के संघर्षपूर्ण जीवन का यथार्थ चित्रण है।

सामाजिक उपन्यासकारों में प्रसाद, विश्वम्भरनाथ 'कौशिक', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', आचार्य चतुरसेन शास्त्री, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' इत्यादि प्रमुख हैं।

२. ऐतिहासिक उपन्यास—ऐतिहासिक उपन्यासों में दो मुख्य धाराओं को देखा जा सकता है—

१. शुद्ध ऐतिहासिकता का निर्वाह।

२. ऐतिहासिक वातावरण में कल्पना का निर्वाह।

शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यासों के अन्तर्गत वृन्दावनलाल वर्मा का 'गढ़ कुंडार' तथा 'झाँसी की रानी' उल्लेखनीय हैं। 'झाँसी की रानी' में तो इतनी

अधिक ऐतिहासिकता है कि यह एक साहित्यिक कृति के स्थान पर इतिहास की पुस्तक लगती है।

ऐतिहासिक वातावरण के आधार पर लिखे गये काल्पनिक उपन्यासो मे वृन्दावनलाल वर्मा की 'विराटा की पद्मिनी', चतुरसेन की 'वैशाली की नगर वधू' उदाहरण रूप में ले सकते हैं।

इनके अतिरिक्त ऐतिहासिक उपन्यासकारों मे राहुल सांकृत्यायन, रांगेय राघव, यशपाल, अमृतलाल नागर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, आनन्द प्रकाश जैन आदि के नाम उल्लेखनीय है। ऐतिहासिक उपन्यासकारों मे सर्वाधिक सफल कहे जा सकते हैं—वृन्दावनलाल वर्मा। 'गढ़ कुंडार' 'विराटा की पद्मिनी', 'झाँसी की रानी', मृगनयनी', 'दुर्गावती', 'सोती आग' आदि इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं।

हिन्दी साहित्य मे अनेक प्रसिद्ध उपन्यासो के होते हुए भी, हिन्दी साहित्य की यह धारा बहुत क्षीण रही है। इस धारा को पुनः विस्तार देने तथा प्रवाहमयी बनाने का सतत उद्योग कर रहे है, आधुनिक युग के युवा उपन्यासकार वाल्मीकि त्रिपाठी। भारतीय अतीत के गौरव को उपन्यासों के माध्यम से जाग्रत करने के लिए सतत प्रयत्नशील वाल्मीकि त्रिपाठी के अब तक आठ उपन्यास प्रकाशित हो चुके है, जिनमे 'दुरभिसंधि' उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत है।

६ मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास—मनोविश्लेपण के स्तर पर आधारित उपन्यास लिखने वालो मे इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र तथा अज्ञेय अग्रणी है।

श्री इलाचन्द्र जोशी ने मनोविश्लेषण को अपने उपन्यासो का आधार बनाया है तथा उसे ही कला का साधन माना है। इनके उपन्यासों में फ्रॉयड तथा मार्क्स का समुचित प्रभाव देखा जा सकता है। इनका विश्वास है कि इन दोनों के इस समन्वय के आधार पर समाज का स्वरूप-विकास हो सकता है। जोशी जी के अधिकतर उपन्यासो मे वैयक्तिक जीवन का ऐकान्तिक विश्लेपण और विवेचन है। पर किसी-किसी उपन्यास में

सामाजिक प्रश्न और समस्याएँ भी महत्त्वपूर्ण रूप से उभरी हैं। उदाहरण के लिए 'मुक्तिपथ' इसी प्रकार का उपन्यास है।

जोशी जी के अनेक उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें 'लज्जा' 'संन्यासी', 'निर्वासित', 'मुक्तिपथ', 'जिप्सी', 'जहाज का पंछी' आदि उल्लेखनीय हैं। वस्तुतः हिन्दी उपन्यासों में मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति के जन्मदाता जोशी जी हैं।

मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों के क्षेत्र में दूसरे प्रसिद्ध उपन्यासकार जैनेन्द्र जी हैं। इनके उपन्यासों में 'आत्म पीड़न' का स्वर बहुत तीव्र तथा गहरा है। गांधीवाद के अध्यात्म पक्ष का प्रभाव इनके उपन्यासों पर स्पष्ट देखा जा सकता है। इनके उपन्यासों का मूलतत्त्व है समर्पण, ऐसा पूर्ण समर्पण जहाँ 'स्व' तथा 'पर' का भेद समाप्त हो जाता है, अहं तिरोहित हो जाता है। इस प्रकार उनके उपन्यासों में काम-पीड़ा तथा समर्पण के चित्रण की तीव्रता है।

जैनेन्द्र के प्रसिद्ध उपन्यासों में 'परख', 'सुनीता', 'कल्याणी', 'सुखदा', 'मुक्ति बोध' आदि का नाम लिया जा सकता है।

इसी प्रवृत्ति के तीसरे प्रमुख उपन्यासकार हैं—अज्ञेय। अज्ञेय का जीवन एक क्रान्तिकारी का जीवन रहा है। इनका विद्रोह एक विद्रोही का व्यक्तित्व है, जो अहंवादी है तथा हर स्थापित मूल्य और मान्यता का विद्रोही है। इनके तीन उपन्यास प्रकाशित हुए हैं—'शेखर एक जीवनी'' 'नदी के द्वीप' तथा 'अपने-अपने अजनबी'। तीनों ही उपन्यास इनकी कलात्मक प्रौढ़ता को स्पष्ट करते हैं। प्रथम उपन्यास पर रोमा रोलां के 'जा क्रिस्ताफ' का स्पष्ट प्रभाव है। द्वितीय उपन्यास अर्थात् 'नदी के द्वीप', मध्यवर्गीय जीवन के सघर्षण की आन्तरिक रहस्य की कहानी कहने वाला विशिष्ट उपन्यास है। 'अपने-अपने अजनबी' अस्तित्ववादी दर्शन से प्रभावित है, जहाँ ईश्वर, मृत्यु सब झूठ है। यदि कुछ सत्य है तो वह है व्यक्ति की स्वतन्त्रता।

४. आंचलिक उपन्यास—आंचलिक उपन्यास हिन्दी साहित्य की नवीन उपलब्धि है। आंचलिक उपन्यास का कथानक किसी अविकसित या अर्द्ध विकसित अंचल अथवा किसी अपरिचित या अर्द्ध परिचित जाति के जीवन या क्रिया-कलापों पर आधारित होता है।

आंचलिक उपन्यासकारों में फणीश्वरनाथ 'रेणु', नागार्जुन, रांगेय राघव, देवेन्द्र सत्यार्थी, शैलेश मटियानी, राही मासूम रजा आदि प्रसिद्ध है। इनमें भी सर्वश्रेष्ठ आंचलिक उपन्यासकार फणीश्वरनाथ 'रेणु' है। इनका उपन्यास 'मैला आंचल' बहुत प्रसिद्ध हुआ। 'परती परिकथा' रेणु का दूसरा प्रसिद्ध उपन्यास है। नागार्जुन का 'बलचनमा' का स्थान आंचलिक उपन्यासों में प्रमुख है। 'आधा गाँव' राही मासूम रजा का चर्चित उपन्यास है।

५. साम्यवादी उपन्यास—इन उपन्यासों में युग संघर्ष का चित्रण हुआ है। वर्तमान समाज के खोखलेपन का, जर्जर मान्यताओं का, शोषण का, वर्ग-संघर्ष का मार्मिक चित्रण इन उपन्यासों में हुआ है। राहुल सांकृत्यायन, यशपाल आदि इस कोटि के प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। राहुल जी का 'वोल्गा से गंगा तक', यशपाल का 'दादा कामरेड', देशद्रोही' आदि वे प्रसिद्ध उपन्यास है जो साम्यवादी प्रभाव को ग्रहण किए है।

इस प्रकार हम देखते है कि हिन्दी-साहित्य की विधा उपन्यास का निरन्तर विकास ही हो रहा है। उपर्युक्त वर्ग के अन्तर्गत आए उपन्यासकारो के अतिरिक्त अन्य और उपन्यासकार है जो अपनी कृतियो द्वारा हिन्दी-साहित्य की निरंतर श्रीवृद्धि कर रहे है। देवेन्द्र सत्यार्थी, धर्मवीर भारती, यज्ञदत्त, अमृतलाल नागर, लक्ष्मीनारायण लाल, उषादेवी मित्रा, प्रताप-नारायण श्रीवास्तव, उदयशंकर भट्ट और विनोदशंकर व्यास, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, वाल्मीकि त्रिपाठी, राही मासूम रजा, शिवानी, नरेश मेहता आदि ऐसे ही उपन्यासकार है जिनसे हिन्दी उपन्यास-साहित्य को बहुत आशाएँ है।

नाटक

आधुनिक गद्य-साहित्य की अन्य महत्त्वपूर्ण विधा है 'नाटक'। वस्तुतः गद्य-साहित्य की परम्परा में मूलतः 'नाटक' ही रहे है। विशुद्ध नाट्य-रीति को ध्यान में रखकर लिखा गया हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक नाटक 'नहुप' है। इस नाटक के रचनाकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता श्री गोपालचन्द्र (गिरधरदास) थे। इसके उपरान्त हिन्दी-साहित्य के गगन-मण्डल पर भारतेन्दु का उदय हुआ। इनके उदय के साथ ही हिन्दी नाटकों का भी भाग्योदय हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सर्वप्रथम बंगला नाटक 'विद्या सुन्दर' का अनुवाद किया। इसके पश्चात् आपने अनेक नाटको का अनुवाद किया तथा मौलिक नाटक लिखे। इनके मौलिक नाटकों मे 'भारत-दुर्दशा', 'अंधेर नगरी', 'सत्य-हरिश्चन्द्र' आदि प्रसिद्ध है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पश्चात् भी अनूदित तथा मौलिक नाटकों के सृजन की परम्परा चलती रही। पंडित रूपनारायण पाण्डेय ने बंगला-नाटकों का, लाला सीताराम ने 'मृच्छकटिक', 'उत्तररामचरित' आदि के अनुवाद प्रस्तुत कर अनुवाद परम्परा को अग्रसारित किया था। किशोरीलाल गोस्वामी ने 'चौपट-चपेट' प० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'रुक्मिणी-परिणय', पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने 'सीता बनवास' आदि लिखकर मौलिक-नाटकों के सृजन का प्रवाह बनाए रखा। हिन्दी-साहित्य में जयशंकर प्रसाद के प्रवेश से हिन्दी नाटकों का सुखद विकास प्रारम्भ हुआ। उनके साहित्यक नाटकों की परम्परा ने हिन्दी नाट्य-साहित्य में क्रांतिकारी परिवर्त्तन किए। आपने भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्यशिल्प का समन्वय करके अपनी नाट्य रचना को विशेष गरिमा प्रदान की।

भारतेन्दु युग से लेकर आधुनिक युग तक हिन्दी का नाट्य-साहित्य निरन्तर विकसित होता रहा। इन नाटको का परिचय प्राप्त करने के लिए सुविधा की दृष्टि से इन्हें निम्नलिखित वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—

१. पौराणिक नाटक, २. ऐतिहासिक नाटक, ३. सामाजिक नाटक, ४. प्रतीकात्मक नाटक, ५. गीति नाटक, ६. समस्यामूलक नाटक तथा ७. एकांकी नाटक।

पौराणिक नाटक—पौराणिक नाटकों का आधार, तीन मुख्य विशेषताएँ होती हैं—कथानक की पौराणिकता, अति नाटकीय दृश्यों की योजना तथा प्राचीनतम विचारों एवं मान्यताओं का निरूपण।

इस दृष्टि से लिखे गए पौराणिक नाटकों को हम तीन वर्गों में बाँट सकते है। पहले वर्ग मे बेताब तथा राधेश्याम कथावाचक के नाटक आते हैं। इन नाटकों मे साहित्यिकता तथा कलात्मकता का अभाव है।

दूसरा वर्ग उन पौराणिक नाटकों का है जो अपेक्षाकृत कलात्मक, साहित्यिक तथा सुरुचिपूर्ण है। उनमे पौराणिक युग के वातावरण की रक्षा का भी सुन्दर प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार के नाटककारों मे बदरीनाथ भट्ट, गोविन्दवल्लभ पंत, माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त, उदयशंकर भट्ट आदि प्रमुख है।

तीसरा वर्ग उन नाटककारो का है जिनके नाटक पौराणिक केवल इसलिए कहे जा सकते है कि उनके कथानक पुराणो से लिए गए हैं, अन्यथा उनका झुकाव ऐतिहासिकता की ओर अधिक है। इस प्रकार के नाटककारो मे प्रसाद, सुदर्शन आदि प्रमुख हैं।

२ ऐतिहासिक नाटक—ऐतिहासिक नाटको के क्षेत्र मे सर्वाधिक सफलता 'प्रसाद' को मिली है। भारतीय इतिहास के पृष्ठों में छिपे अतीत के गौरव को उन्होने अपने नाटकों मे पुनः प्रतिष्ठित किया है। उनके नाटको के माध्यम से हिन्दू-संस्कृति के श्रेष्ठ तत्त्वो की अभिव्यक्ति हुई है। उन्होने न तो ऐतिहासिकता का इतना निर्वाह किया है कि नाटक साहित्यिक कृति न लगकर इतिहास का पिष्टपेषण मात्र लगे और न कल्पना का ही इतना रंग भरा कि इतिहास का महत्त्व ही समाप्त हो जाए। उनके नाटकों मे इतिहास तथा कल्पना का अद्भुत समन्वय है।

'प्रसाद' के प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक हैं—'राज्यश्री', 'विशाख', 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी'।

'प्रसाद' के समय तथा पश्चात् में भी अनेक नाटककारों ने ऐतिहासिक नाटकों की रचना की। परन्तु इन नाटकों में 'प्रसाद' के नाटकों की कलात्मकता और ऐतिहासिकता का निर्वाह नहीं है। इन नाटककारों में उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी, सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', जगदीशचन्द्र माथुर प्रमुख है।

३ **सामाजिक नाटक**—अन्य नाटकों की तुलना में सामाजिक नाटक कम लिखे गए। कुछ प्रमुख नाटककार तथा उनके सामाजिक नाटक इस प्रकार है—गोविन्दवल्लभ पंत का 'अंगूर की बेटी', सेठ गोविन्ददास का 'प्रकाश और पाकिस्तान', उदयशंकर भट्ट की 'कमला' तथा 'अन्तहीन अन्त' इत्यादि।

४. **प्रतीकात्मक नाटक**—प्रतीकवादी नाटकों की परम्परा संस्कृत-साहित्य से ही चली आ रही है। हिन्दी में प्रारम्भिक प्रतीकात्मक नाटकों के रूप में केशव का 'विज्ञान गीता' तथा देव का 'देवमाया प्रपञ्च' मिलते है। इस युग के प्रतीकात्मक नाटकों में 'प्रसाद' की 'कामना' तथा पन्त का 'ज्योत्स्ना' प्रसिद्ध हैं।

इन दोनों के अतिरिक्त भगवती प्रसाद वाजपेयी की 'छलना', सेठ गोविन्ददास का 'नवरस', कुमार हृदय का 'नक्शे का रंग', डा० शम्भूनाथ सिंह का 'धरती और आकाश', डा० लक्ष्मीनारायण लाल का 'मादा कैक्टस' आदि उल्लेखनीय प्रतीकात्मक नाटक है।

५. **गीति-नाटक**—आधुनिक नाटकों की एक अन्य विधा गीति-नाटकों की है। हिन्दी साहित्य में गीति-नाट्य के प्रारम्भ को लेकर विद्वानों में मतभेद है। कुछ आलोचकों के अनुसार प्रसाद का 'करुणालय' हिन्दी का प्रथम गीति-नाट्य है और कुछ आलोचक निराला के 'पंचवटी प्रसंग' को सर्वप्रथम गीति-नाट्य मानते है। इसमें सन्देह नहीं कि पंचवटी प्रसंग

में भावों की एकरूपता, काव्यात्मकता आदि सभी गुण अपेक्षाकृत कहीं अधिक पाये जाते हैं।

प्रसाद का 'करुणालय', उदयशंकर भट्ट का 'मत्स्यगंधा', 'विश्वामित्र', 'राधा' तथा 'कालिदास', पन्त के दो गीति-नाट्य-संग्रह 'रजत शिखर' तथा 'शिल्पी', डा० धर्मवीर भारती का 'अंधा-युग', डा० लक्ष्मीनारायण लाल का 'सूखा सरोवर' इत्यादि गीति-नाट्य-साहित्य मे महत्त्वपूर्ण स्थान बना चुके हैं।

६. समस्यामूलक नाटक—हिन्दी में समस्यामूलक नाटकों का जन्म इब्सन तथा बर्नार्ड शा के प्रभाव से हुआ। इस प्रकार के नाटककारों में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' तथा लक्ष्मीनारायण मिश्र का नाम विशेपरूप से उल्लेखनीय है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' को अपने नाटकों में सामाजिक समस्याओ के उद्घाटन में अतिशय सफलता मिली है। रंगमंच की दृष्टि से भी इनके नाटक अत्यत सफल है। 'स्वर्ग की झलक', 'कैद', 'उड़ान' आदि इनके प्रसिद्ध समस्यामूलक नाटक हैं।

लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने नाटकों में नारी तथा पुरुष के सम्बन्ध तथा मनोवैज्ञानिक समस्याओं का कलात्मक विवेचन किया है। 'सिन्दूर की होली', 'संन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर' आदि इनके प्रसिद्ध समस्यामूलक नाटक हैं। इनके अतिरिक्त समस्यामूलक नाटककारों में प्रेमसहाय सिंह, हरिकृष्ण प्रेमी, पृथ्वीनाथ शर्मा, सेठ गोविन्ददास, सूर्यनारायण शुक्ल आदि का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है।

७. एकांकी नाटक—हिन्दी नाट्य-साहित्य मे एकांकी नाटकों का जन्म कब हुआ, इस विषय मे विद्वान् एक मत नही हैं। श्री रामनाथ सुमन की सम्मति मे डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी एकांकियों के जन्मदाता है। कतिपय आलोचक 'प्रसाद' के 'एक घूंट' को प्रथम एकांकी मानते हैं। कुछ भी हो, आज हिन्दी नाट्य-साहित्य की यह विधा पर्याप्त समृद्ध हो गयी है। 'प्रसाद' के 'एक घूंट' के पश्चात् भुवनेश्वर का 'कारवां' नामक एकांकी

संग्रह निकला। इनके एकांकी नाटक सामाजिक समस्या की तीव्र तथा मार्मिक अभिव्यक्ति के लिए प्रसिद्ध हैं। डा० रामकुमार वर्मा आज के प्रसिद्ध एकांकीकार हैं। उन्होंने ऐतिहासिक तथा सामाजिक दोनों प्रकार के एकांकी लिखे हैं। 'रेशमी टाई', 'चारुमित्रा', 'सप्तकिरण' आदि उनके प्रसिद्ध एकांकी संग्रह हैं। 'अश्क' जी भी एक प्रखर एकांकीकार हैं। उनके एकांकियों में हास्य तथा व्यंग्य की मनोहर छटा है। इनके अतिरिक्त लक्ष्मीनारायण मिश्र, भगवतीचरण वर्मा, जगदीशचन्द्र माथुर भी कुशल एकांकीकार हैं जिन्होंने रेडियो-एकांकियों की माँग पूरा किया है।

आज के युग में रेडियो रूपक, ध्वनि नाट्य, फीचर आदि कई प्रकार के लघु नाटक भी लिखे जा रहे हैं।

निबन्ध

हिन्दी-साहित्य में निबन्ध का प्रादुर्भाव भारतेन्दु-काल में ही हो गया था। उस काल से लेकर आधुनिक काल तक हिन्दी-साहित्य में इस विधा का निरन्तर विकास होता रहा। इस विकास में मुद्रण-यन्त्र, समाचार पत्रों के प्रकाशन आदि ने भी बड़ा योग दिया हैं। भारतेन्दु-युग से लेकर आधुनिक युग तक निबन्ध के विकास को समझने के लिए, हम इस समस्त काल के निबंधों को सुविधा की दृष्टि से चार भागों में बाँट सकते हैं—

१. भारतेन्दु-युग; २. द्विवेदी-युग; ३. शुक्ल-युग तथा ४. शुक्लोत्तर-युग।

१. भारतेन्दु-युग—भारतेन्दु-युग राष्ट्रीय जागरण का उषाकाल था। इस युग के निबंधकारों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रताप-नारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', ज्वालाप्रसाद, तोताराम, अम्बिकादत्त व्यास आदि प्रमुख हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र बहुमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार थे। वह हिन्दी के ऐसे प्रथम निबन्धकार हैं जिन्होंने न केवल हिन्दी-साहित्योद्यान में 'निबन्ध' का बीजारोपण ही किया अपितु उसे पल्लवित और पुष्पित

भी किया। उनके निबन्धों का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। धर्म, समाज, राजनीति, खोज, यात्रा, प्रकृति, आत्मचरित्र, व्यंग्य-विनोद आदि नाना विषयों को इन्होंने अपने निबन्धों का विषय बनाया और सफल निबंधों की रचना की। सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार, धार्मिक आडम्बरों पर तीखा व्यंग्य, प्रकृति का मनोरम चित्रण इनके निबंधों की विशेषताएँ है। इनके निबन्धों मे वर्णनात्मक, काव्यात्मक तथा विचारात्मक शैलियां मिलती है।

भारतेन्दु-युग के दूसरे श्रेष्ठ निबन्धकार बालकृष्ण भट्ट हैं। इनके निबन्धों में प्रगतिशील विचारो की झलक मिलती है। भट्ट जी के निबन्धों का क्षेत्र भी व्यापक है जिसकी परिधि में सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक, मनोवैज्ञानिक विषय आ जाते हैं।

प्रतापनारामण मिश्र भारतेन्दु-युग के एक अन्य प्रसिद्ध निबन्धकार है। 'ब्राह्मण-पत्र' में इनके निबन्ध प्रकाशित होते थे। इनकी प्रकृति मस्त तथा व्यक्तित्व स्वच्छन्द था। फलस्वरूप, इनके स्वभाव की यह मस्ती इनके निबन्धों में आ जाना स्वाभाविक ही है। 'नवीन', 'प्रताप पीयूष' तथा 'प्रताप समुच्चय' नामक तीन निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

श्री बदरीनारायण 'प्रेमघन' भी भारतेन्दु-युग के प्रमुख निबन्धकार है। आपके निबन्धों का क्षेत्र प्रमुखतः सामाजिक रहा है। सामाजिक स्थिति के साथ राजनीतिक स्थिति पर भी आपने निबन्ध लिखे है। इस विषय पर आपने बड़ी निर्भीकता के साथ लेखनी चलायी है। बालमुकुन्द गुप्त का हिन्दी के क्षेत्र मे आगमन उर्दू से हुआ था। यह अपने व्यंग्यात्मक निबन्धों के कारण प्रसिद्ध है। जीवन चरित, हिन्दी भाषा, लिपि, व्याकरण आदि इनकी निबन्ध-रचना के क्षेत्र में आ जाते है।

द्विवेदी-युग—इस युग की साहित्यिक चेतना के प्रेरणा-स्रोत आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी है। द्विवेदी-युग में न केवल भारतेन्दु-युग की भावनाओं, विचारो, शैलियों एवं साहित्यिक विधाओं का प्रसार तथा विकास हुआ, अपितु भाषा के संस्कार तथा परिष्कार का भी कार्य हुआ।

यह महत्वपूर्ण कार्य आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की सशक्त प्रतिभा-सम्पन्न लेखनी से सम्भव हुआ । उन्होंने भाषा के व्याकरणसम्मत रूप के प्रयोग पर बल दिया और हिन्दी-भाषा में संस्कृत के उपयोगी तत्सम शब्दों के साथ अन्य भाषाओं के भी आवश्यक शब्दों के प्रयोग को स्वीकार किया।

द्विवेदी-युग के प्रमुख निबन्धकार है—महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्याम-सुन्दर दास, पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबन्धु, माधवप्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी तथा अध्यापक पूर्णसिंह । निबंध के क्षेत्र में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का ऐतिहासिक महत्त्व है । उन्होंने न केवल भारतीय साहित्य की प्राचीन परम्परा का अध्ययन किया, अपितु पाश्चात्य-लेखकों की विशेषताओं का भी मनन किया । इनके निबन्धों की भाषा अत्यत शुद्ध है और रोचकता लिए हुए है । 'साहित्य की महत्ता', 'कवि और कविता', 'कवि कर्तव्य' आदि उनके प्रसिद्ध निबन्ध है । मौलिक निबन्ध-रचना के साथ उन्होंने वेकन के निबन्धों का 'बेकन विचार-रत्नावली' के नाम से अनुवाद भी किया है ।

द्विवेदी-युग के अन्य सफल एवं प्रसिद्ध निबन्धकार बाबू श्यामसुन्दर दास हैं। इनकी विशेषता यह है कि ये सफल निबंधकार के साथ ही एक उच्च-कोटि के आलोचक भी है। इनके निबन्धों में सूक्ष्म चित्रण तथा विचारों की गंभीरता है। व्यास शैली में लिखे गए उनके निबंध सरल तथा स्पष्ट है। 'भारतीय साहित्य की विशेषताएँ', 'समाज और साहित्य', 'कर्त्तव्य और सभ्यता' आदि आपके प्रसिद्ध निबंध है।

पद्मसिंह शर्मा के निबन्ध अपनी व्यंग्य प्रधान तथा रोचक शैली के कारण प्रसिद्ध है। फड़कती हुई भाषा के कारण इनके निबंध काफी आकर्षक बन गए हैं। 'पद्म पराग' तथा 'प्रबन्ध मंजरी' नामक आपके दो संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इसके साथ आपने कुछ जीवनियाँ तथा संस्मरणात्मक लेख भी लिखे हैं। मिश्र-बन्धुओं ने अधिक सख्या में निबन्ध लिखे हैं। ये निबंध अपने शिक्षात्मक महत्त्व के कारण प्रसिद्ध है।

भावनापूर्ण निबंधों की रचना में माधवप्रसाद मिश्र के निबंधों का अपना महत्त्व है। इनके निबन्धों का संग्रह 'माधव मिश्र निबंधमाला' के नाम से प्रकाशित हुआ है। चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने कहानियों की भाँति निबन्ध भी कम लिखे हैं परन्तु उन निबधों में उनकी कहानियों की भाँति मार्मिकता तथा प्रभावमयता है।

भावनात्मक निबंध रचना में सरदार पूर्णसिंह का विशिष्ट महत्त्व है। मानवतावादी दृष्टिकोण इनके निबन्धों का आधार है। मौलिक चिंतन तथा प्रगतिशीलता इनके निबन्धों के दो प्रमुख तत्व हैं। 'सच्ची वीरता', 'मजदूरी और प्रेम' आदि इनके लोकप्रिय तथा प्रसिद्ध निबन्ध है।

शुक्ल-युग—हिन्दी-निबंध साहित्य में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के प्रवेश के साथ ही हिन्दी निबन्ध अपने शीर्ष स्थान पर पहुँच गया। नवीन विचारों से, नवीन अनुभूतियों से, अभिव्यक्ति की नवीन शैलियों से हिन्दी-निबन्ध-साहित्य का शृंगार होने लगा। हिन्दी निबंधों का क्षेत्र 'मनोविज्ञान' की सीमा में पहुँच गया। इस युग में निबंधों के क्षेत्र में साहित्यिक, सैद्धान्तिक, मनोवैज्ञानिक सभी प्रकार के विषय आ गए।

शुक्ल-युग के महत्त्वपूर्ण निबन्धकार है—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू गुलाबराय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगी हरि, रायकृष्णदास, वासुदेवशरण अग्रवाल, शान्तिप्रिय द्विवेदी इत्यादि।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने निबन्धों से हिन्दी-निबंध-साहित्य को शीर्ष स्थान पर पहुँचा दिया। शुक्ल जी जितने श्रेष्ठ निबंधकार थे; उतने ही उच्चकोटि के आलोचक भी थे। इनके निबंध विचारों की गंभीरता, चिन्तन की मौलिकता, विवेचना की सूक्ष्मता तथा परिपक्वता को लिए हुए हैं।

बाबू गुलाबराय ने द्विवेदी-युग से ही लिखना प्रारम्भ कर दिया था। इनके निबन्धो के क्षेत्र में साहित्यिक, संस्मरणात्मक, मनोवैज्ञानिक सभी प्रकार के विषय आ जाते है। गभीर मनोवैज्ञानिक निबंधों के साथ ही साथ

उन्होंने हास्य-प्रधान निवंधों की रचना भी की है। आपके 'ठलुआ क्लव', 'फिर निराशा क्यों ?', 'मेरी असफलताएँ', 'कुछ उथले कुछ गहरे' आदि कई निवंध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

पदुमलाल पुन्नालाल वख्शी भी निवन्ध क्षेत्र में विशेप विख्यात हैं। आपके निवंधों में सहज लालित्य पाया जाता है। गम्भीर से गम्भीर विचारों को भी सुवोध और सरल ढंग से रखने में आप सिद्धहस्त हैं। आपके निवंधों ने साहित्य, धर्म, समाज आदि सभी विषयों का स्पर्श किया है। 'पंत्रपात्र', 'पद्मवन', 'कुछ' तथा 'और कुछ' आपके प्रसिद्ध निवंध संग्रह हैं। पं० माखनलाल चतुर्वेदी अपने मार्मिक संस्मरणों तथा गद्यात्मक सूक्तियों से युक्त निवन्धों के लिए प्रसिद्ध हैं। आपके निवन्धों में विचार, भाव, व्यंग्य आदि का अद्‌भुत समन्वय है। 'अमीर इरादे गरीव इरादे' आपका प्रसिद्ध निवंध संग्रह है।

वियोगी हरि अपने भावात्मक निवंधों के लिए प्रसिद्ध है। इनके विचार-प्रधान निवंधों में भी एक तरह की भावात्मक तन्मयता लक्षित होती है। वियोगी हरि जी ने अनेक समस्याओं को लेकर विविध निवंध लिखे हैं। ऐसे निवंधों का एक संग्रह 'यो भी तो देखिये' नाम से प्रकाशित हुआ है। रायकृष्णदास भावात्मक निवंधों के लिये प्रसिद्ध हैं। इनके निवंधों में विचारों की अपेक्षा निजी अनुभूतियों का प्राधान्य है। डा० वासुदेव-शरण अग्रवाल इतिहास तथा संस्कृति के अन्वेषक, विचारक तथा व्याख्याता के रूप में प्रसिद्ध हैं। 'पृथ्वीपुत्र', 'माताभूमि', 'कला और संस्कृति', 'वेद विद्या' आदि आपके प्रसिद्ध निवन्ध-संग्रह हैं।

शान्तिप्रिय द्विवेदी अपने भावात्मक निवंधों के लिए प्रख्यात हैं! आप सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक विषयों को अपने 'निवंध' की सीमा के भीतर लाए है। आपने साहित्य को सांस्कृतिक चेतना का सहज परिणाम माना है। 'जीवन यात्रा', 'साहित्यिकी', 'संचारिणी', 'साकल्य', 'धरातल' आदि आपके प्रसिद्ध निवंध-संग्रह हैं।

शुक्लोत्तर-युग—शुक्ल जी के पश्चात् आज तक लिखे गये निबंधों में हमें एक उस पीढ़ी के दर्शन होते है जो विषय तथा शैली दोनों की दृष्टि से नवीन है। इस नवीन पीढ़ी के साथ कुछ ऐसे भी लेखक है जो छायावादी युग से ही लिखते आ रहे है। ऐसे लेखकों में डा० सम्पूर्णानन्द, डा० भगवतशरण उपाध्याय, इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र, यशपाल, रामवृक्ष वेनीपुरी, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, रामधारीसिंह 'दिनकर' आदि प्रसिद्ध है।

डा० सम्पूर्णानन्द अपने चिन्तन-मनन के लिए विख्यात हैं। इनके निबंध गहन-विचारों का वहन करते हैं। 'स्फुट विचार' आपके निबंधो का महत्त्वपूर्ण सकलन है। डा० भगवतशरण उपाध्याय 'इतिहास' के खोजी साहित्यकार है। इतिहास की मार्मिक घटनाओं को लेकर आपने अनेक प्रभावपूर्ण निबंध लिखे है। इसके अतिरिक्त संस्कृति तथा कला सम्बन्धी भी अनेकों लेख लिखे हैं। 'साहित्य और कला', 'सास्कृतिक निबंध' आदि आपके प्रसिद्ध निबंध-संग्रह है। श्री रामवृक्ष वेनीपुरी संस्मरण, रेखाचित्र, यात्रा-वृत्तान्त तथा ललित निबंधों के लिए प्रसिद्ध है। वेनीपुरी जी के निबंधों में भावुकता है, सहृदयता है। 'वन्दे वाणी वियानकौ' आपके ललित-निबंधों का प्रसिद्ध संग्रह है।

इलाचन्द्र जोशी गंभीर चिन्तन-मनन के लिए प्रसिद्ध हैं। आपके अधिकांश निबंध मनोवैज्ञानिक चिंतन से युक्त हैं। 'विवेचना', विश्लेषण', 'साहित्य-चिन्तन' आदि आपके महत्त्वपूर्ण निबंध-संग्रह है।

जैनेन्द्र जी भी चिंतन-प्रधान निबंधकार हैं। आपके निबंध गांधीवादी विचारधारा से प्रभावित हैं। 'प्रस्तुत प्रश्न', 'जड़ की बात', 'पूर्वोदय', 'इतस्ततः' आदि आपके चिंतन प्रधान निबंध-संग्रह है। यशपाल एक सफल कथाकार ही नही, उच्चकोटि के निबंध-लेखक भी है। सामाजिक ढाँचे को बदलने के लिए क्रान्तिकारी परिवर्त्तन की इच्छा का आभास आपके निबंधों में मिलता है। आप मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित है जिसका प्रभाव

आपके निवंधों पर भी पड़ा है । 'न्याय का संघर्ष', 'बात बात में बात' आपके महत्त्वपूर्ण निवंध-संग्रह है ।

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी वर्त्तमान-युग के श्रेष्ठ निवंधकार हैं । भारतीय संस्कृति और उसका गौरव आपके निवंधों का आधार है । आपके निवंधों में आत्मव्यंजना की प्रधानता है । सरसता आपके निवंधों की विशेषता है । 'अशोक के फूल', 'कल्पलता', तथा 'कुटज' आदि आपके प्रसिद्ध निवंध-संग्रह हैं ।

महादेवी वर्मा अलंकृत, भावात्मक, गंभीर, विवेचनापूर्ण, एवं परिष्कृत निवंध-रचना में सिद्धहस्त हैं। गंभीर, गहन विचारों का वहन करते हुए भी उनके निवंध भावात्मकता, संवेदनशीलता से शून्य नहीं है । 'क्षणदा', 'शृंखला की कड़ियाँ' आपके प्रसिद्ध निवंध-संग्रह हैं । प्रसिद्ध कवि रामधारी सिंह दिनकर, ने अपने निवंधों द्वारा भी हिन्दी-जगत् को चमत्कृत कर दिया । उनके निवंधों में उनका कवि-हृदय स्पष्ट परिलक्षित होता है । विवेचनात्मक निवंधों में भी भावनात्मक लालित्य है । 'मिट्टी की ओर', 'अर्धनारीश्वर', 'रेती के फूल', 'वेणुवन' आदि उनके प्रसिद्ध निवंध-संग्रह है ।

अन्य निवंधकारों में डा० रामविलास शर्मा, अज्ञेय, डा० नगेन्द्र, डा० भगीरथ मिश्र, डा० रघुवंश, डा० प्रभाकर माचवे, नलिन विलोचन शर्मा, डा० रामरतन भटनागर आदि प्रसिद्ध हैं ।

प्रगतिवादी तथा सतत जागरूक आलोचक के रूप में डा० रामविलास शर्मा विख्यात हैं । 'राष्ट्रभाषा' के सम्बन्ध में आपके तर्कों तथा विचारों ने देशव्यापी ख्याति पायी है । आपके स्फुट निवंधों का संग्रह 'राष्ट्रभाषा की समस्या' के नाम से प्रकाशित हुआ है ।

'अज्ञेय' जी अपने गम्भीर विवेचनापूर्ण तथा लालित्यपूर्ण निवंधों के लिए प्रसिद्ध हैं । आपके निवंधों में आत्मपरक शैली के दर्शन होते हैं । यात्रा संवंधी निवंध ललित हैं । आपकी साहित्यिक मान्यताओं की स्थापना

विकास हुआ, यथा—शास्त्रीय आलोचना, तुलनात्मक मूल्यांकन, काव्यात्मक आलोचना, पाठालोचन इत्यादि ।

द्विवेदी-युग के पश्चात् आता है हिन्दी आलोचना का चरमोत्कर्ष काल, जिसे हम शुक्ल-युग के नाम से सम्बोधित कर सकते हैं । इस युग में हिन्दी-आलोचना को नये-नये आयाम प्राप्त हुए । आचार्य शुक्ल ने आलोचना के नवीन मानदण्डों का विकास किया, आलोचना-पद्धति को नवीन दिशाएँ दीं । वे रसवादी तथा सौन्दर्यवादी आलोचक होने के साथ ही साथ समाज-निरपेक्ष कोरी वैयक्तिकता के विरोधी थे । वह 'कला के लिए कला' तथा 'कला जीवन के लिए', इन दोनों सिद्धान्तों के समन्वय के पक्षपाती थे । सैद्धान्तिक आलोचना-पद्धति के समर्थक आचार्य शुक्ल के युग में हिन्दी-आलोचना ने नवीन ऊँचाइयों का स्पर्श किया तथा भविष्य के लिए नवीन सम्भावनाओं का मार्ग प्रशस्त किया । शुक्लोत्तर-युग में हिन्दी-आलोचना का तीव्र गति से विकास हो रहा है । अनेक कवियों पर उनके ग्रन्थों पर पर्याप्त कार्य हो रहा है । आलोचना के नवीन रूपों का विकास हो रहा है, जिनमें प्रमुख हैं—तुलनात्मक आलोचना-पद्धति, गवेषणात्मक आलोचनात्मक-पद्धति, अभिव्यंजनावादी आलोचना-पद्धति ।

भारतेन्दु-युग से लेकर आज के युग तक हिन्दी-आलोचना निरन्तर विकास के पथ पर आगे बढ़ रही है । इस सुदीर्घ समय में आलोचना के विकास को समझने के लिए हम उसको निम्नलिखित वर्गों में विभाजित कर सकते हैं । ये वर्ग वस्तुतः हिन्दी-आलोचना के विभिन्न रूप या प्रकार ही हैं—

१. शास्त्रीय आलोचना; २. व्यावहारिक आलोचना; ३. अनुसंधान-परक आलोचना; ४. पाठालोचन; ५. स्वच्छन्दतावादी आलोचना; ६. प्रगतिवादी आलोचना; ७. मनोवैज्ञानिक आलोचना और ८. ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक आलोचना ।

१. शास्त्रीय आलोचना—रीतिकालीन लक्षण ग्रन्थों की परम्परा

का निर्वाह, आधुनिक युग के आलोचकों ने भी किया है। इन आलोचकों तथा ग्रन्थों में प्रमुख हैं—राजा मुरारीदीन का 'जसवंत भूषण' लाला भगवानदीन का 'अलंकार-मंजूषा', कन्हैयालाल पोद्दार का 'काव्य कल्पद्रुम', अयोध्यासिंह उपध्याय का 'रसकलश' इत्यादि।

इस शास्त्रीय आलोचना का दूसरा पक्ष है—नवीन दृष्टिकोण का प्रवेश। इस नवीन दृष्टिकोण के पोषक आलोचकों में महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दरदास, बाबू गुलाबराय आदि प्रमुख हैं। इन सभी आलोचक विद्वानों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की देन का अत्यधिक महत्व है। उनकी 'चिन्तामणि' नामक पुस्तक ने मौलिक सिद्धान्तों की स्थापना की।

पाश्चात्य तथा भारतीय सिद्धान्तों के समन्वय के आधार पर सिद्धान्त ग्रंथों का प्रणयन भी, शास्त्रीय आलोचना की एक अन्य विशेषता है। डा० रामकुमार वर्मा, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, सीताराम चतुर्वेदी आदि ने इस आधार पर ग्रन्थों का निर्माण किया।

२. व्यावहारिक आलोचना—आलोचना की इस नवीन-पद्धति का प्रयोग भारतेन्दु-युग में ही होने लगा था। आरम्भ में इसका क्षेत्र 'पुस्तक परिचय' तक ही सीमित था। कालान्तर में इस 'पुस्तक-परिचय' ने विकसित होकर 'पुस्तक समीक्षा' और पुनः 'साहित्यिक समालोचना' का रूप ले लिया। भारतेन्दु-युग में बदरीनारायण 'प्रेमघन', बालकृष्णभट्ट आदि के द्वारा प्रस्तुत विभिन्न पुस्तकों की आलोचनाएँ, पुस्तक-समीक्षा का ही विकसित रूप थी। आचार्य शुक्ल ने इस व्यावहारिक आलोचना में व्याख्यात्मक पद्धति का विकास किया। उदाहरण के लिए 'जायसी,' 'तुलसी', 'सूर' आदि पर उनकी आलोचनाएँ ली जा सकती हैं। इस पद्धति का विकास बाबू श्यामसुन्दरदास, बाबू गुलाबराय जैसे आलोचकों ने भी किया।

३. अनुसंधानपरक आलोचना—इस आलोचना का विकास वस्तुतः

'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के प्रकाशन से माना जाता है। इस पत्रिका में प्रकाशित बाबू राधाकृष्णदास, किशोरीलाल गोस्वामी, एडविन ग्रीव्स, बाबू श्यामसुन्दरदास के गवेषणात्मक निबंधों ने अनुसन्धान-परक आलोचना के विकास में बहुत योग दिया। सम्मेलन पत्रिका, गवेषणा, हिन्दुस्तानी, तथा परिषद् पत्रिकाओं में निरंतर गवेषणायुक्त आलोचनाएँ प्रकाशित हो रही है।

४. पाठालोचन—इसके अन्तर्गत प्राचीन साहित्यकारों के ग्रन्थों के सही पाठ की खोज आती है, जिससे उनके कृतित्व का उचित मूल्यांकन हो सके। इस दिशा में बाबू श्यामसुन्दरदास, प० रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पं विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० माताप्रसाद गुप्त, जवाहरलाल चतुर्वेदी आदि के प्रयत्न विशेष महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने कबीर, जायसी, तुलसी, सूर, भिखारीदास आदि के ग्रन्थों पर कार्य किया है।

५. स्वच्छन्दतावादी आलोचना—स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियाँ द्विवेदी युग में ही अंकुरित होने लगी थीं, पर उनका पूर्ण विकास छायावादी-युग में आकर हुआ। हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी कवियों पर पाश्चात्य कवियो का प्रभाव रग जमा रहा था। वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स के स्पष्ट प्रभाव को हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी कवियों पर देखा जा सकता है। इस स्थिति में हिन्दी की स्वच्छन्दतावादी आलोचना पर पाश्चात्य रोमांटिक समीक्षा का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इस आलोचना को पल्लवित तथा पुष्पित करने का प्रमुख श्रेय आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी को है।

६. प्रगतिवादी आलोचना—इस आलोचना ने यथार्थ के सत्य स्वरूप को ग्रहण किया है। 'स्वप्न लोक' के 'कुंजो' में घूमती छायावादी 'कवि की कल्पना' प्रगतिवाद के युग में यथार्थ की धरती का स्पर्श करती है। इसके साथ ही जन्म होता है प्रगतिवादी आलोचना का। इस आलोचना का मुख्य तत्व सामाजिक यथार्थ है। फलतः इस आलोचना पर मार्क्सवादी दर्शन का प्रभाव स्वाभाविक है।

इस प्रकार के आलोचकों में डा० रामविलास शर्मा, डा० रांगेय राघव, डा० नामवर सिंह, प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि प्रमुख हैं। छायावादी धुन्ध को दूर करके हिन्दी-साहित्य में नवीन चेतना लाने के कारण प्रगतिवादी आलोचना का अपना महत्त्व है।

७. मनोवैज्ञानिक आलोचना—हिन्दी की इस आलोचना पर फ्रायड की अन्तश्चेतनावादी कला-सिद्धांत का स्पष्ट प्रभाव है। फ्रायड के बाद एडलर तथा युंग के प्रभाव को भी इस मनोवैज्ञानिक आलोचना ने ग्रहण किया है। मानव मन की चेतन, अर्द्धचेतन तथा अवचेतन स्थितियों का सूक्ष्म विवेचन तथा उद्घाटन इस मनोवैज्ञानिक आलोचना का आधार है।

हिन्दी के मनोवैज्ञानिक आलोचकों में शीर्ष-स्थान इलाचन्द्र जोशी का है। अन्य आलोचकों में उल्लेखनीय हैं—डा० देवराज, अज्ञेय तथा कुछ सीमा तक डा० नगेन्द्र। कुछ सीमा तक इसलिए कि डा० नगेन्द्र मूलतः रसवादी आलोचक हैं, पर वे मनोविज्ञान को रसवाद का पूरक मानते हैं।

८. ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक आलोचना—इस प्रकार की आलोचना का मुख्य आधार इतिहास तथा संस्कृति का परिवेश है। इस प्रकार का आलोचक वर्त्तमान जटिल समस्याओं का समाधान इतिहास एवं प्राचीन संस्कृति की सीमाओं में खोजने का प्रयत्न करता है। इनमें प्रमुख हैं—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, परशुराम चतुर्वेदी, पं० विश्वनाथ मिश्र आदि। हिन्दी के शोध-प्रबन्धों के क्षेत्र में इस आलोचना के महत्त्व को स्वीकार किया जा रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी-गद्य जिसका विकास भारतेन्दु-युग से प्रारम्भ हुआ था, आज उत्कर्ष के चरम-शिखर पर पहुँच गया है। हिन्दी गद्य इन ऊँचाइयों का स्पर्श करके ही सतुष्ट नहीं हुआ है, वरन् अपनी अनेक विधाओं को भी जन्म दिया है, जिनका निरंतर विकास होता जा रहा है।

वत्ता सभी स्वीकारते हैं। टण्डन जी के लोकसभा के भाषणों का संकलन 'शासन पथ निदर्शन' के नाम से विख्यात है।

आपकी सर्वप्रमुख हिन्दी सेवा है भारतीय संविधान में सर्वसम्मति से हिन्दी को भारत संघ की राजभाषा का पद प्रदान कराना। १४ अगस्त सन् १९४९ में भारत की संविधान-सभा में टण्डन जी के प्रभावशाली नेतृत्व के कारण हिन्दी को राजभाषा का पद मिला था। हिन्दी के प्रश्न पर टण्डन जी कभी नहीं झुके और गांधी जी ने जब हिन्दुस्तानी का समर्थन किया, टण्डन जी ने उनका भी विरोध किया था।

टण्डन जी ने राजनीति में रहते हुए भी हिन्दी साहित्य की समृद्धि के लिए बहुत कुछ कार्य किया है। उनकी इन सेवाओं के कारण भारत सरकार ने उन्हें 'भारत रत्न' की उपाधि से विभूषित किया था।

'धन और उसका उपयोग' उनका व्यावहारिक जीवन-दर्शन पर आधारित निबंध है।

धन और उसका उपयोग

⊙⊙

विचार यह उठता है कि धन है क्या वस्तु, किसी साधारण मनुष्य से पूछिए तो वह यही उत्तर देगा कि धन के अर्थ है—रुपया, पैसा, मोहर, सोना, चाँदी, हीरा, मोती इत्यादि। फिर उससे पूछा जाय कि क्यों जी, इन्हीं पदार्थों को धन क्यो कहते हैं। क्या तुम्हारे घर की और वस्तुएँ धन नहीं है? तो कदाचित् वह यह कहेगा—"हाँ, एक प्रकार से वे भी धन है, परन्तु विशेषकर धन इन्ही पदार्थों को कहते हैं; क्योकि साधारण रीति से इनके ही द्वारा हम अन्य वस्तुओं को ले सकते है।" यद्यपि सम्पत्ति-शास्त्र के अनुसार युक्तिपूर्वक धन की परिभाषा वह मनुष्य न दे सके, तथापि वह यह जानता है कि धन उसी को कहते है, जिसको देकर उसके बदले कोई पदार्थ मिल सके। वास्तव में धन व सम्पत्ति के अर्थ बहुत बड़े है और इन शब्दों से उन समग्र पदार्थों का बोध होता है, जिनसे मनुष्य की इच्छाओं को पूरा करने का साधन प्राप्त होता है और जिनके बदले में मनुष्य अन्य पदार्थों को दूसरे से पा सकता है, अर्थात् 'धन' से उन सब पदार्थों का बोध होता है, जिनके द्वारा मनुष्य औरों की शक्ति को व उनकी शक्ति के फल को अपने काम में ला सके। परन्तु साधारण बोलचाल मे 'धन' और 'धन' की माप के पदार्थ व सिक्कों में अन्तर नहीं किया जाता। मनुष्य धन की इच्छा केवल इस प्रयोजन से करता है कि वह ऐसा मन्त्र है, जिसको सिद्ध कर अपने पास रखने से मनुष्य औरों की शक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार अपने वश में कर सकता है और जिस प्रकार मंत्र की सिद्धि, यदि उससे काम न लिया जाए, तो व्यर्थ है, उसी प्रकार धन का उपार्जन करना व्यर्थ है, यदि उसके द्वारा काम न लिया जाए। वास्तव में सोना या चाँदी में स्वयं मनुष्य

धन और उसका उपयोग

⊙⊙

विचार यह उठता है कि धन है क्या वस्तु, क़िसी साधारण मनुष्य से पूछिए तो वह यही उत्तर देगा कि धन के अर्थ है--रुपया, पैसा, मोहर, सोना, चाँदी, हीरा, मोती इत्यादि। फिर उससे पूछा जाय कि क्यों जी, इन्हीं पदार्थों को धन क्यों कहते है। क्या तुम्हारे घर की और वस्तुएँ धन नहीं है? तो कदाचित् वह यह कहेगा—"हाँ, एक प्रकार से वे भी धन है, परन्तु विशेषकर धन इन्ही पदार्थों को कहते हैं; क्योंकि साधारण रीति से इनके ही द्वारा हम अन्य वस्तुओं को ले सकते है।" यद्यपि सम्पत्ति-शास्त्र के अनुसार युक्तिपूर्वक धन की परिभाषा वह मनुष्य न दे सके, तथापि वह यह जानता है कि धन उसी को कहते है, जिसको देकर उसके बदले कोई पदार्थ मिल सके। वास्तव में धन व सम्पत्ति के अर्थ बहुत बड़े है और इन शब्दों से उन समग्र पदार्थों का बोध होता है, जिनसे मनुष्य की इच्छाओं को पूरा करने का साधन प्राप्त होता है और जिनके बदले में मनुष्य अन्य पदार्थों को दूसरे से पा सकता है, अर्थात् 'धन' से उन सब पदार्थों का बोध होता है, जिनके द्वारा मनुष्य औरों की शक्ति को व उनकी शक्ति के फल को अपने काम में ला सके। परन्तु साधारण बोलचाल में 'धन' और 'धन' की माप के पदार्थ व सिक्कों में अन्तर नहीं किया जाता। मनुष्य धन की इच्छा केवल इस प्रयोजन से करता है कि वह ऐसा मन्त्र है, जिसको सिद्ध कर अपने पास रखने से मनुष्य औरों की शक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार अपने वश में कर सकता है और जिस प्रकार मंत्र की सिद्धि, यदि उससे काम न लिया जाए, तो व्यर्थ है, उसी प्रकार धन का उपार्जन करना व्यर्थ है, यदि उसके द्वारा काम न लिया जाए। वास्तव में सोना या चाँदी में स्वयं मनुष्य

सुख की अपेक्षा कितना गुना सुख उत्पन्न होता है। यह बहुत ही रोचक और विचार-योग्य विषय है, परन्तु इतना सूक्ष्म है कि इसको यहाँ पर नहीं उठायेंगे। यहाँ केवल इस बात की ओर हम ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को अपने ही अधिक-से-अधिक सुख के लिए व उनके सुख के लिए जिनका सुख वह चाहता है, किस प्रकार धन का उपयोग करना उचित है।

सबसे पहली आवश्यकता मनुष्य को भोजन की है। आदि-काल से लेकर आज तक सबसे पहला उद्योग मनुष्य को इसी के लिए करना पड़ता है। क्या उस काल मे जब मनुष्य केवल आखेट के सहारे रहता था, क्या उस समय जब वह केवल खेती, फल और पशुओं के दूध के ऊपर निर्भर रहता था, क्या आजकल जब वह इन कामो के साथ ही सहस्रों प्रकार के काम करता है, सबसे पहला ध्यान उसका अपने शरीर के पालन की ओर रहता है। यह इच्छा छोटे बच्चे से बूढ़े तक मे प्रकृति की ही प्रविष्ट की हुई है और सृष्टि की स्थिति इसी के ऊपर निर्भर है। इसी से सबसे पहला सुख जो मनुष्य-मात्र अनुभव करता है, इसी आवश्यकता के पूरी करने मे होता है और इस कारण धन का पहला उपयोग प्रत्येक मनुष्य के लिए इसी कार्य के निमित्त उचित है। परन्तु यहाँ इतना स्मरण रखना चाहिए कि धन की उपयोगिता उसी भोजन के लिए व्यय होने में है, जिससे शरीर का पालन और उसकी पुष्टि हो, क्योंकि शारीरिक सुख इसी मे है कि शरीर हृष्ट-पुष्ट रहे। वह भोजन जो प्रायः केवल जिह्वा के स्वाद के लिए अथवा इन्द्रियों को प्रबल करने के लिए किया जाता है, वास्तव मे सुखदायी नहीं है, जिसमें क्षण-मात्र का सुख हो, परन्तु उससे यदि शरीर वा बुद्धि को हानि पहुँचे, तो प्रत्यक्ष है कि वह सुखदायी नही हो सकता। इससे भोजन के निमित्त धन की अधिक-से-अधिक उपयोगिता उसी मे है, जिससे शरीर का पालन हो, शारीरिक और मानसिक शक्ति बढे। इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक का भोजन उसके कर्म के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। आध्यात्मिक

शक्तियों को जगानेवाले योगियों का भोजन वही नहीं हो सकता, जो अपने देश की रक्षा करनेवाले और संग्राम में लड़नेवाले सिपाही का। परन्तु यह सिद्धान्त अवश्य प्रत्येक मनुष्य के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि उसके भोजन की अधिक-से-अधिक उपयोगिता उस प्रकार के खाद्य पदार्थों में है, जो उसके उस कर्म में सहायक हो, जो उसका उद्देश्य है।

दूसरी आवश्यकता मनुष्य को व्यवहार के अनुसार कपड़े पहनने की होती है। वस्त्र के सम्बन्ध में इस बात का कोई नियम नहीं बाँधा जा सकता कि किस मनुष्य को किस वस्तु में धन लगाने से अधिक सुख मिलता है। प्रत्येक मनुष्य को अपनी दशा के अनुसार वस्त्र पहनने पड़ते हैं, परन्तु धन, अधिक-से-अधिक सुख लेने के लिए कहाँ तक वस्त्रों में लग सकता है, इसकी सीमा अवश्य होती है, और सीमा मेरे विचार में यह है कि वस्त्रों से शरीर स्वस्थ रहे और उन्हें देखकर चित्त में प्रसन्नता हो, उनके कारण चित्त में कभी ग्लानि न उत्पन्न हो और उस मण्डली के लोग, जिसमें वह मनुष्य रहता है, पहिनने वाले के वस्त्र पर आक्षेप कर उसके चित्त को मलिन न करें। इसमें सन्देह नहीं कि इस सीमा के परे होकर भी मनुष्य धन के द्वारा सुख उठा सकता है। परन्तु वह धन का सबसे अच्छा उपयोग नहीं होगा, क्योंकि वही धन उसी मनुष्य के और कामों में लगकर अधिक सुख उत्पन्न कर सकता है।

तीसरी आवश्यकता मनुष्य की यह है कि कोई ऐसी कारीगरी, हुनर अथवा व्यवसाय सीखे और करे, जिससे भोजन और वस्त्र की आवश्यकताएँ तथा अन्य स्वाभाविक इच्छाएँ पूरी हो सकें, अर्थात् जिसके द्वारा आवश्यकतानुसार धनोपार्जन हो। इसलिए यह प्रत्यक्ष है कि उस व्यवस्था के सीखने और उसकी सामग्री इकट्ठा करने में धन का लगना बहुत ही उपयोगी और सुख का बढ़ानेवाला है।

पूर्वोक्त शारीरिक इच्छाओं में और इन इच्छाओं को पूरा करने के लिए धन पैदा करने के यत्न में धन लगाने के पीछे मानसिक इच्छाओं को

पूरा करने की आवश्यकता पड़ती है। मनुष्य और पशु में यही समानता और अन्तर है कि कुछ दूर तक तो दोनों के कर्म एक ही हैं, अर्थात् सबसे पहले दोनों को शारीरिक इच्छाओं को पूरा करने की आवश्यकता रहती है। इन इच्छाओं को पूरा करने में ही पशुओं की तृप्ति और उनका सुख है, परन्तु मनुष्य की अर्थात् साधारण मनुष्य की और उनकी नहीं, जिनमें और पशुओं में केवल सूरत ही का भेद है, तृप्ति शारीरिक इच्छाओं को पूरा करके नहीं होती। मनुष्य प्रकृति की अद्भुत कारीगरी को देखता है और स्वभाव से उसके चित्त में प्रश्न उठते हैं—"यह क्या है? यह किस प्रकार होता है?" ज्ञान की जिज्ञासा मनुष्य-मात्र का लक्षण है और इस जिज्ञासा के पूरी करने में जो आनन्द होता है, वह शारीरिक सुख की अपेक्षा अधिक तीव्र और स्थायी होता है। इसलिए इस जिज्ञासा को पुस्तकों अथवा गुरु-शिक्षा अथवा अपनी विचार-शक्ति द्वारा पूरा करना मनुष्य का चौथा कर्म है, और उसमें धन लगाना धन की चौथी उपयोगिता है।

शरीर को अच्छा स्वस्थ रखने के लिए भोजन और कपड़े के अतिरिक्त उसके प्रत्येक अंगों को काम में लाने के लिए व्यायाम की आवश्यकता पड़ती है। और इस कारण से कि शरीर और मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है और जब तक उसका शरीर के ऊपर भी अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता, ऐसे शारीरिक आमोद-प्रमोद में धन लगाना पड़ता है, जिनसे शरीर को लाभ हो और मन को भी प्रसन्नता हो। जिस प्रकार से केवल भोजन और कपड़े से शारीरिक आवश्यकता समाप्त नहीं होती वरञ्च और आनन्द देनेवाले खेलों की खोज होती है, इसी प्रकार ज्ञान प्राप्त करने के अतिरिक्त भी मानसिक खेलों की आवश्यकता पड़ती है अर्थात् जिनमें कुछ बुद्धि का काम हो, परन्तु बुद्धि को अधिक कष्ट करने की आवश्यकता न पड़े। कभी-कभी शारीरिक और मानसिक दोनों ही स्वास्थ्यों के लिये एक ही कर्म उपयोगी होता है। जैसे, पहाड़ पर अथवा नदी किनारे पर्यटन करना, इसमें शरीर को लाभ होता है, परन्तु इसके साथ ही मन में भी अनेक कल्पनाएँ उठती हैं और उनमें मग्न

होकर मन को आनन्द मिलता है और कठिन मानसिक परिश्रम से जो मानसिक थकावट होती है, वह दूर होती है। परन्तु बहुत-सी ऐसी मानसिक आनन्द की वस्तुएँ होती है, जिनका विशेष सम्बन्ध मन और बुद्धि से है, जैसे संगीत, कविता, चित्रकारी इत्यादि। इन मानसिक स्वास्थ्य के पदार्थों में जो सुख मिलता है, वह शारीरिक स्वास्थ्य के द्वारा जो सुख मिलता है उससे कहीं अधिक बढ़कर और स्थायी होता है, उसी प्रकार जैसे मानसिक भोजन अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने में (जिसको हमने चौथी आवश्यकता बतलाया है) जो आनन्द मिलता है, वह उस आनन्द से बढ़कर और स्थायी होता है, जो शरीर की रक्षा के निमित्त भोजन करने में होता है। सारांश यह कि शारीरिक और मानसिक आमोद-प्रमोद मनुष्य की पाँचवीं आवश्यकता है और इसमें धन लगाना उपयोगी है।

उपर्युक्त धन के उपयोगों में सब ऐसे हैं, जिनमें धन नष्ट (बुरे अर्थ मे नहीं; किन्तु केवल काम में आकर न रह जाने के अर्थ में) होता है और जैसा हम कह आए हैं, धन इसीलिए है और उसका सुख इसी में है कि उसे 'नष्ट' यानी खर्च या व्यय किया जाए, परन्तु धन खर्च होने के लिए धन की स्थिति चाहिए—अर्थात् धन का-उपार्जन चाहिए। इसी कारण धन के उपार्जन में धन लगाने को हमने धन का तीसरा उपयोग बतलाया है। यदि मनुष्य अपनी इच्छानुसार अपना स्वास्थ्य और अपनी स्थिति रख सकता, तो पूर्वोक्त तीसरी उपयोगिता में एक बार धन लगाकर कदाचित यह निश्चित हो जाता और आवश्यकता के अनुसार धन पैदा कर अपने काम किया करता, परन्तु वास्तव में मनुष्य के स्वास्थ्य अथवा उसकी आयु के सम्बन्ध में स्थिरता नहीं है। आज मनुष्य का स्वास्थ्य अच्छा है और वह शक्तिवान् है, तो धन उपार्जन के लिए परिश्रम कर सकता है। कल रोगग्रस्त है बुढ़ापा आ गया, कठिन परिश्रम की शक्ति नहीं रह गई, परन्तु आवश्यकताएँ वैसी ही हैं। अपने लिए और कुटुम्ब के लिए धन अवश्य चाहिए। इस कारण जिस समय मनुष्य परिश्रम कर धनोपार्जन कर सकता है, उसके

धन का छठा उपयोग धन का इकट्ठा करना है। ऊपर कहे हुए पाँचों उपयोगों का सम्बन्ध न केवल अपने से ही है, वरन् उनसे भी है, जिनके सुख से मनुष्य सुखी होता है और जिनका पालन वह अपना धर्म समझता है।

धन का ऐसा उपयोग कि जिससे उसकी आवश्यकता पड़ने पर और उपार्जन के अभाव में, दुःख न हो, सुख का बढ़ाने वाला है और कुछ अंश तक आवश्यक भी है, परन्तु जिस प्रकार से अन्य आवश्यकताओं में धन की उपयोगिता की प्रत्येक पुरुष के लिए अवस्था-भेदानानुसार सीमा है, उसी प्रकार धन इकट्ठा करने में अथवा इस नीयत से उसको कहीं लगाने में, जिसमें आवश्यकता के समय मिल जाए, धन की उपयोगिता की सीमा है।

अब देखना है कि किस सीमा तक धन इकट्ठा कर मनुष्य किस प्रकार से अपनी आवश्यकताओं से बचनेवाले धन को लगावे, जिसमें उसको सबसे अधिक सुख हो? जब कोई मनुष्य धन इकट्ठा करने की इस अवस्था तक पहुँच जाता है, तब प्रायः यह देखा जाएगा कि वह आगे अपने पास बचने वाले धन के कुछ अंश को उपर्युक्त आवश्यकताओं में से ऐसे कार्यों में लगावेगा जो बिना हानिकारक हुए और सुख पहुँचाते हुए बढ़ाए जा सकते हैं, जैसे विद्या के उपार्जन में, परन्तु बचनेवाले धन का बहुत थोड़ा अंश प्रायः इस प्रकार वह लगा सकेगा। शेष की उपयोगिता इसी में होगी कि वह अन्य मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरी करने में लगाया जाए। इस प्रकार धन लगाने में एक ऐसा अकथनीय आनन्द होता है, जिसका स्वाद साधारण रीति से प्रायः सब ही मनुष्य जानते हैं; किन्तु अच्छे प्रकार से सहृदय पुरुष ही उसका सुख उठा सकते हैं। वास्तव में मनुष्य की सातवीं आवश्यकता यह है कि वह अन्य लोगों के सुख के लिए यत्न करे और धन की भी बहुत बड़ी उपयोगिता प्रत्येक मनुष्य के लिए इसी में है कि वह एक सीमा के परे, दूसरों के लाभ

और सुख के लिए अपना धन लगावे और इस प्रकार से स्वयं धन के द्वारा सुख प्राप्त करे।

यहाँ पर मैंने जो कुछ लिखा है, वह केवल स्वार्थ अर्थात् अपने सुख के भाव से है—धर्म और पुण्य के विचार से उसका सम्बन्ध नहीं। और न महान् पुरुषों की शैली की मैंने व्याख्या की है, क्योंकि ऐसे पुरुषों के हृदयों में 'अपने' सुख का विचार नही होता। वहाँ धन की अधिक-से-अधिक उपयोगिता देश व संसार के सुख के भाव से देखा जाता है। महान् पुरुषों के हृदय दूसरों के दुःख को देख ही नहीं सकते। यदि उनके पास दूसरों के दुःख को दूर करने की कोई शक्ति है तो वे 'अपना' आगा-पीछा नही देखते, वे 'अपनी' आवश्यकताओं का ब्यौरा नहीं फैलाते। उनको आनन्द इसी मे आता है कि वे दूसरों की सहायता कर सकें और औरों को सुखी देखने ही में उनका सुख है। साधारण लोग भी थोड़ा-बहुत इस सुख का कभी-कभी अनुभव करते है

क्रोध

⊙⊙

क्रोध दुःख के चेतन कारण के साक्षात्कार या अनुमान से उत्पन्न होता है। साक्षात्कार के समय दुःख और उसके कारण के सम्बन्ध का परिज्ञान आवश्यक है। तीन चार महीने के बच्चे को कोई हाथ उठाकर मार दे, तो उसने हाथ उठाते तो देखा है पर अपनी पीड़ा और उस हाथ उठाने से क्या सम्बन्ध है, वह नही जानता है। अतः वह केवल रोकर अपना दुःख मात्र प्रकट कर देता है। दुःख के सज्ञान कारण की स्पष्ट धारणा के बिना क्रोध का उदय नही होता। दुःख के सज्ञान कारण पर प्रबल प्रभाव डालने में प्रवृत्त करने वाला मनोविकार होने के कारण क्रोध का आविर्भाव बहुत पहले देखा जाता है। शिशु अपनी माता की आकृति से परिचित हो जाने पर ज्योंही यह जान जाता है कि दूध इसी से मिलता है, भूखा होने पर वह उसे देखते ही अपने रोने मे कुछ क्रोध का आभास देने लगता है।

सामाजिक जीवन में क्रोध की जरूरत बराबर पड़ती है। यदि क्रोध न हो तो मनुष्य दूसरे के द्वारा पहुँचाए जानेवाले बहुत से कष्टों का चिर-निवृत्ति का उपाय ही न कर सके। कोई मनुष्य किसी दुष्ट के नित्य दो-चार प्रहार सहता है। यदि उसमे क्रोध का विकास नही हुआ है तो वह केवल आह-ऊह करेगा जिसका उस दुष्ट पर कोई प्रभाव नही। उस दुष्ट के हृदय में विवेक, दया आदि उत्पन्न करने में बहुत समय लगेगा। संसार किसी को इतना समय ऐसे छोटे-छोटे कामों के लिए नही दे सकता। भयभीत होकर भी प्राणी अपनी रक्षा कभी-कभी कर लेता है; पर समाज में इस प्रकार प्राप्त दुःख-निवृत्ति चिर-स्थायिनी नही होती। हमारे कहने का अभिप्राय यह नही है कि कोध के समय क्रोध करनेवाले के मन में सदा भावी कष्ट से

बचने का उद्देश्य रहा करता है। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि चेतन-सृष्टि के भीतर क्रोध का विधान इसीलिए है।

जिससे एक बार दुःख पहुँचा, पर उसके दुहराए जाने की संभावना कुछ भी नहीं है, उसको जो कष्ट पहुँचाया जाता है वह प्रतिकार मात्र है, उसमें रक्षा की भावना कुछ भी नहीं रहती। अधिकतर क्रोध इसी रूप में देखा जाता है। एक-दूसरे से अपरिचित दो आदमी रेल पर चले जा रहे हैं। इनमें से एक को आगे ही के स्टेशन पर उतरना है। स्टेशन तक पहुँचते-पहुँचते बात ही बात में एक ने दूसरे को एक तमाचा जड़ दिया और उतरने की तैयारी करने लगा। अब दूसरा मनुष्य भी यदि उतरते-उतरते उसे एक तमाचा लगा दे तो यह उसका बदला या प्रतिकार ही कहा जायेगा, क्योंकि उसे फिर उसी व्यक्ति से तमाचे खाने का कुछ भी निश्चय नहीं था। जहाँ और दुःख पहुँचने की कुछ सम्भावना होगी, वहाँ शुद्ध प्रतिकार न होगा, उसमें स्वरक्षा की भावना भी मिली होगी।

हमारा पड़ोसी कई दिनों से नित्य आकर हमें दो-चार टेढ़ी-सीधी सुना जाता है। यदि हम एक दिन उसे पकड़कर पीट दें तो हमारा यह कर्म शुद्ध प्रतिकार न कहलाएगा, क्योंकि हमारी दृष्टि नित्य गालियाँ सहने के दुःख से बचने के परिणाम की ओर भी समझी जायेंगी। इन दोनों दृष्टान्तों को ध्यानपूर्वक देखने से पता लगेगा कि दुःख से उद्विग्न होकर दुःखदाता को कष्ट पहुँचाने की प्रकृति दोनों मे है; पर एक मे वह परिणाम आदि का विचार बिल्कुल छोड़े हुए है और दूसरे में कुछ लिए हुए। इसमें से पहले दृष्टान्त का क्रोध उपयोगी नहीं दिखाई पड़ता। पर क्रोध करनेवाले के पक्ष में उसका उपयोग चाहे न हो, पर लोक के भीतर वह बिल्कुल खाली नही जाता। दुःख पहुँचाने वाले से हमे फिर दुःख पहुँचने का डर न सही, पर समाज को तो है। इससे उसे उचित दण्ड दे देने से पहिले तो उसी की शिक्षा या भलाई हो जाती है, फिर समाज के और लोगो के बचाव का बीज भी बो दिया जाता है। यहाँ पर भी वही बात है कि क्रोध के समय लोगों के

क्रोध करके चूल्हे में पानी डाल किनारे हो गए। इस प्रकार का क्रोध अपरिष्कृत है। यात्रियों ने बहुत से ऐसे जंगलियों का हाल लिखा है जो रास्ते में पत्थर की ठोकर लगने पर बिना उसको चूर-चूर किए आगे नही बढ़ते। अधिक अभ्यास के कारण यदि कोई मनोविकार बहुत प्रबल पड़ जाता है, तो वह अन्तःप्रकृति में अव्यवस्था उत्पन्न कर मनुष्य को बचपन से मिलती-जुलती अवस्था में ले जाकर पटक देता है।

क्रोध सब मनोविकारों से फुरतीला है; इसी से अवसर पड़ने पर यह और मनोविकारों का भी साथ देकर अपनी तुष्टि का साधक होता है। कभी वह दया के साथ कूदता है, कभी घृणा के। एक क्रूर कुमार्गी किसी अनाथ अबला पर अत्याचार कर रहा है। हमारे हृदय में उस अनाथ अबला के प्रति दया उमड़ रही है। पर दया की अपनी शक्ति तो त्याग और कोमल व्यवहार तक होती है। यदि वह स्त्री अर्थ-कष्ट में होती तो उसे कुछ देकर हम अपनी दया के वेग को शान्त कर लेते। पर यहाँ तो उस अबला के दुःख का कारण मूर्तिमान् तथा अपने विरुद्ध प्रयत्नों को ज्ञानपूर्वक रोकने की शक्ति रखने वाला है। ऐसी अवस्था में क्रोध ही उस अत्याचारी के दमन के लिए उत्तेजित करता है जिसके बिना हमारी दया ही व्यर्थ जाती। क्रोध अपनी इस सहायता के बदले में दया की वाहवाही को नही बाँटता। काम क्रोध करता है, पर नाम दया ही का होता है। लोग यही कहते है कि "उसने दया करके बचा लिया" यह कोई नहीं कहता कि "क्रोध करके बचा लिया।" ऐसे अवसरों पर यदि क्रोध दया का साथ न दे तो दया अपनी प्रवृत्ति के अनुसार परिणाम उपस्थित ही नहीं कर सकती।

क्रोध शांति भंग करने वाला मनोविकार है। एक का क्रोध दूसरे में भी क्रोध का संचार करता है। जिसके प्रति क्रोध-प्रदर्शन होता है वह तत्काल अपमान का अनुभव करता है और इस दुःख पर उसकी भी त्योरी चढ जाती है। यह विचार करने वाले बहुत थोड़े निकलते हैं कि हम पर

जो क्रोध प्रकट किया जा रहा है, वह उचित है या अनुचित। इसी से धर्म नीति और शिष्टाचार तीनों में क्रोध के निरोध का उपदेश पाया जाता है। सन्त लोग तो खलों के वचन सहते ही है, दुनियादार लोग भी न जाने कितनी ऊँची-नीची पचाते रहते हैं। सभ्यता के व्यवहार में भी क्रोध नहीं तो क्रोध के चिह्न दबाये जाते है। इस प्रकार के प्रतिबन्ध की भी सीमा है। यह परपीड़कोन्मुख क्रोध तक नहीं पहुँचता।

क्रोध के निरोध का उपदेश अर्थ-परायण और धर्म-परायण दोनों देते हैं। पर दोनों में जिसे अति से अधिक सावधान रहना चाहिए वही कुछ भी नहीं रहता। बाकी रुपया वसूल करने का ढंग बताने वाला चाहे कड़े पड़ने की शिक्षा दे भी दे, पर धज के साथ धर्म की ध्वजा लेकर चलने वाला धोखे में भी क्रोध को पाप का बाप ही कहेगा। क्रोध रोकने का अभ्यास ठगों और स्वार्थियों को सिद्धों और साधकों से कम नहीं होता। जिससे कुछ स्वार्थ निकालना रहता है जिसे बातों में फँसाकर ठगना रहता है, उसकी कठोर से कठोर अनुचित बातों पर न जाने कितने लोग जरा भी क्रोध नहीं करते, पर उनका यह अक्रोध न धर्म का लक्षण है, न साधन।

क्रोध के प्रेरक दो प्रकार के दुःख हो सकते हैं—अपना दुःख और पराया दुःख। जिस क्रोध के त्याग का उपदेश दिया जाता है वह पहले प्रकार के दुःख से उत्पन्न क्रोध है। दूसरे दुःख पर उत्पन्न क्रोध बुराई की हद के बाहर समझा जाता है। क्रोधोत्तेजक दुःख जितना ही अपने सम्पर्क से दूर होगा, उतना ही लोक में क्रोध का स्वरूप सुन्दर और मनोहर दिखाई देगा। अपने दुःख से आगे बढ़ने पर भी कुछ दूर तक क्रोध का कारण थोड़ा बहुत अपना ही दुःख कहा जा सकता है—जैसे अपने आत्मीय या परिजन का दुःख, इष्टमित्र का दुःख। इसके आगे भी जहाँ तक दुःख की भावना के साथ कुछ ऐसी विशेषता लगी रहेगी कि जिसे कष्ट पहुँचाया जा रहा है वह हमारे ग्राम, पुर या देश का रहने वाला है, वहाँ तक हमारे क्रोध के सौन्दर्य की पूर्णता में कुछ कसर रहेगी। जहाँ उक्त भावना निर्विशेष रहेगी वहीं

सम्भावना बहुत अधिक रहती है। किसी मत, सम्प्रदाय या संस्था के भीतर निरूपित आदर्शों पर ही अनन्य दृष्टि रखने वाले बाहर की दुनिया देख-देख कर अपने जीवन-भर चिड़चिड़ाते चले जाते हैं। जिधर निकलते हैं, रास्ते भर मुँह बिगड़ा रहता है। चिड़चिड़ाहट एक प्रकार की मानसिक दुर्बलता है, इसी से रोगियों और बुड्ढों में अधिक पाई जाती है। इसका स्वरूप उग्र और भयंकर न होने से यह बहुतों के—विशेषतः बालकों के—विनोद की एक सामग्री भी हो जाती है। बालकों को चिड़चिड़े बुड्ढों को चिढ़ाने में बहुत आनन्द आता है और कुछ विनोदी बुड्ढे भी चिढ़ने की नकल किया करते हैं। कोई 'राधाकृष्ण' कहने से, कोई 'सीताराम' पुकारने से और कोई 'करेले' का नाम लेने से चिढ़ता है और अपने पीछे लड़कों की एक खासी भीड़ लगाए फिरता है। जिस प्रकार लोगों को हँसाने के लिए कुछ लोग मूर्ख या बेवकूफ बनते हैं, उसी प्रकार चिड़चिड़े भी। मूर्खता मूर्ख को चाहे रुलाए, पर दुनिया को तो हँसाती ही है। मूर्ख हास्यरस के बड़े प्राचीन आलम्बन हैं। न जाने कब से वे इस संसार की रुखाई के बीच हास का विकास कराते चले आ रहे हैं। आज भी दुनिया को हँसने का हौसला बहुत कुछ उन्हीं की बरकत से हुआ करता है।

किसी बात का बुरा लगना, उसकी असह्यता का क्षोभयुक्त और आवेगपूर्ण अनुभव होना, अमर्ष कहलाता है। पूर्ण क्रोध की अवस्था में मनुष्य दुःख पहुँचाने वाले पात्र की ओर ही उन्मुख रहता है—उसी को भयभीत या पीडित करने की चेष्टा में प्रवृत्त रहता है। अमर्ष में दुःख पहुँचाने वाली बात ब्योरों पर और उसकी असह्यता पर विशेष ध्यान रहता है। इसकी ठीक व्यंजना ऐसे वाक्यों में समझनी चाहिए—"तुमने मेरे साथ यह किया, वह किया। अब तक तो मैं सहता आया, अब नहीं सह सकता।" इसके आगे बढ़कर जब कोई दाँत पीसता और गरजता हुआ यह कहने लगे कि "मैं तुम्हें धूल मे मिला दूँगा; तुम्हारा घर खोद कर फेंक दूँगा।" तब क्रोध का पूर्ण स्वरूप समझना चाहिए।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

(सन् १९०७ ई०–१९७९ ई०)

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी के अग्रणी निबंधकार हैं। संस्कृत, ज्योतिष तथा हिन्दी का अध्ययन करने के बाद आप गुरुदेव रवीन्द्र के निमंत्रण पर 'शान्ति-निकेतन' में अध्यापन-कार्य करने लगे। वहाँ जाकर आपने अंग्रेजी और बंगला का अध्ययन किया। सन् १९४० से १९५० ई० तक आप वहाँ हिन्दी-भवन के निर्देशक के पद पर रहे। इसके पश्चात् सन् १९५१ ई० में हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी में हिन्दी-विभागाध्यक्ष और आचार्य होकर आए। सन् १९४९ ई० में आपको लखनऊ विश्व-विद्यालय ने डी० लिट्० की उपाधि से सम्मानित किया। सन् १९४७ में आपको भारत सरकार ने 'पद्मश्री' की उपाधि से विभूषित किया। १९६० से पंजाब विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष व आचार्य के पद पर नियुक्त हुए। बाद में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष पद पर आसीन हुए। कुछ समय रेक्टर तथा व्याकरण-संस्थान के निदेशक रहे। कुछ समय आप हिन्दी ग्रंथ अकादमी उत्तर प्रदेश के उपाध्यक्ष थे और बाद में आप उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के उपाध्यक्ष के पद पर कार्य किया था।

द्विवेदी जी की भाषा, भाव और अभिव्यक्ति में ऐसा अनूठा तारतम्य रहता है कि उसे पढ़ते ही पाठक का मन उसमें रम जाता है और पाठक बेरोक-टोक उसे पढ़े चला जाता है। आपकी भाषा संस्कृत प्रधान होती है किन्तु कहीं-कहीं उर्दू-फारसी के प्रचलित शब्दों का प्रयोग भी आपकी कृतियों में मिलता है। आपकी रचनाओं में अनेक स्थानों पर भाषा वक्रता और चमत्कारिता सुसंगठित, परिष्कृत और विषयानुकूल है।

द्विवेदी जी की शैली आगमन शैली है। उसमें एक उन्मुक्त गति और

अनुयायी होते थे । महात्मा जी के इस वक्तव्य में जो संदेश है, वह उन लोगों के लिए है जो अहिंसा और मैत्री के मार्ग से चलकर सम्पूर्ण मानव-समाज में अहिंसा और मैत्री का धर्म प्रतिष्ठित कराना चाहते हैं। उनकी साधना व्यक्तिगत साधना हो सकती है, पर उनका लक्ष्य व्यक्तिगत नहीं होता; वह सम्पूर्ण समाज को कल्याण के प्रति सचेष्ट करना चाहता है। वस्तुतः जब अहिंसा को साधना और साध्य दोनों कहा जाता है तो उसका यही अर्थ हो सकता है कि मन, वचन और कर्म की व्यक्तिगत अहिंसा और मैत्री-धर्म के द्वारा समूची मनुष्य-जाति को इस महान् सत्य के प्रति उन्मुख और इसे उपलब्ध करने के लिए प्रयत्नशील बनाना है। व्यक्तिगत अहिंसा और मैत्री का धर्म साधन है—और उसकी सामूहिक रूप में उपलब्धि साध्य ।

हार और जीत है क्या वस्तु ? जब हम इन शब्दों का व्यवहार करते हैं तो हमारे मन में किसी न किसी प्रकार की एक लड़ाई की कल्पना होती है। हम किसी प्रतिपक्ष को दबाकर अपने मनोनुकूल लक्ष्य तक पहुँच जाते हैं तो उसे जीत कहते हैं; और जब प्रतिपक्ष ही प्रबल हो जाता है और हमें अपने लक्ष्य तक पहुँचने नहीं देता, तब हम निराश होकर अपनी हार मान लेते हैं। साधारण मनुष्य अपने हर छोटे-छोटे प्रयत्नों में एक न एक प्रकार का संघर्ष देखता है। उसके प्रयत्नों का सबसे अन्तिम किनारा जीत या हार है, शेष कर्म प्रवाह संघर्ष है या प्रतिपक्ष को दबा देने की लड़ाई है। इसीलिए वह अपने प्रयत्नों की सफलता के लिए चिन्तित होता रहता है। यदि वह चिन्तित न हो तो उसका संघर्ष निर्बल पड़ सकता है और अवसर मिलते ही प्रतिपक्ष उसको दबा सकता है; परन्तु सब संघर्षों में यह बात नहीं होती। जहाँ साधना और साध्य में भेद होता है वहाँ तो यह समस्या बड़ी जटिल हो उठती है। प्रेम यदि चित्त में हो और प्रतिपक्ष को दबाना नहीं बल्कि उसे उठाना लक्ष्य हो, तो मनुष्य के मन में हार की बात आ ही नहीं सकती। नितान्त छोटी-छोटी बातों में भी इसकी परीक्षा की जा सकती

है । पिता अपने छोटे बच्चे के साथ खेलता है तो हारने को बुरा नहीं मानता । प्राचीन काल से ही लोग 'पुत्रात् शिष्यात् पराजयम्'—पुत्र और शिष्य से पराजय की ही कामना करनी चाहिए, यह बात गर्वपूर्वक मानते आ रहे हैं; क्योंकि वहाँ यद्यपि पुत्र के साथ एक प्रकार की प्रतिपक्ष-भावना ही होती है, पर वह प्रतिपक्ष-भावना लड़ाई की नहीं होती । उसमें प्रतिपक्षी के प्रति प्रीति और उसे और बड़ा बनाने की भावना प्रबल होती है । इस 'संघर्ष' की हार, हार नहीं होती; क्योंकि उसमें आरम्भ से अन्त तक प्रेम होता है ।

प्रेम की लड़ाई में हार और जीत केवल शब्द-मात्र है, जो वस्तुतः एकार्थक है या निरर्थक है । सत्याग्रही की लड़ाई प्रेम की लड़ाई होती है, इसीलिए उसमें हार और जीत का कोई प्रश्न ही नही उठता है । जिसे अपने कार्यों और आदर्शों में अखण्ड विश्वास न हो, वह सत्याग्रही नही हो सकता; और जो यह विश्वास लेकर ही अग्रसर हुआ है कि वह तथाकथित प्रतिपक्षी को और भी उन्नत और कल्याणकारी बनायेगा, उसे हारने की आशंका कैसे हो सकती है !

जो लोग महात्मा जी के इस प्रकार के अखण्ड विश्वास को नहीं समझ सकते थे, उन्हें ही यह शंका होती थी कि महात्मा जी के अमुक कार्य से हार हो जाने की सम्भावना है । जो लोग उनके आलोचक थे, उनके हृदय में यह बात आती ही नहीं थी कि शत्रु से भी प्रेम किया जा सकता है । महात्मा जी ने जब कहा था कि "मैं तो अंग्रेजों की भलाई के लिए कहता हूँ कि वे इस देश को छोड़कर चले जाएँ" तो लोगों ने इसका परिहास किया था । एक बार एक सज्जन ने यहाँ तक कहा था कि यह महात्मा जी का सबसे बड़ा चकमा देने वाला वाक्य है । उनके कहने का मतलब यह था कि महात्मा जी ने ऐसा कहकर अपने प्रयत्नों को दुनिया की दृष्टि में ऊँचे स्तर पर ले जाने की चेष्टा की थी । इस प्रकार के विचार करनेवालों को महात्मा जी की कोई भी बात समझ में नहीं आती थी; क्योंकि वे अपने सड़े हुए संस्कारों

डॉ० श्यामसुन्दरदास
(संवत् १९३२—२००२ वि०)

बाबू श्यामसुन्दरदास बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न साहित्यकार थे। हिन्दी-साहित्य में जिस समय बाबू श्यामसुन्दरदास का आविर्भाव हुआ, उस समय एक ऐसे व्यक्तित्व की आवश्यकता थी जो विविध प्रकार की कृतियों का निर्माण कर सके। बाबू श्यामसुन्दरदास के व्यक्तित्व तथा कृतित्व ने इस आवश्यकता की पूर्ति कर दी।

बाबूजी की प्रतिभा बहुमुखी थी। वह एक सफल सम्पादक, शोधक, अध्यापक तथा आलोचक थे।

सम्पादक के रूप में आपने नवीन मानदण्ड स्थापित किए। आपके सम्पादन के तीन रूप मिलते हैं—प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन, पत्रिका का सम्पादन तथा कोश का सम्पादन। आपके द्वारा सम्पादित कोश 'हिन्दी-शब्द-सागर', हिन्दी साहित्य का ऐतिहासिक स्मारक है।

बाबू जी एक जागरूक अन्वेषक भी थे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रूप में उन्होंने शोध-कार्य को अधिकाधिक प्रोत्साहित किया। हिन्दी-साहित्य में शोध-कार्य का सूत्रपात करने वाला, डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का शोध-ग्रन्थ 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' बाबू साहब की प्रेरणा तथा देख-रेख में पूरा हुआ था। हिन्दी-भाषा तथा साहित्य में, उनकी अन्वेषक-प्रवृत्ति ने, बहुमूल्य खोज की जिसका प्रमाण उनकी 'भाषा का इतिहास' तथा 'हिन्दी भाषा और साहित्य' प्रकाशित हुआ।

बाबू जी आलोचना-साहित्य के विदग्ध पंडित तथा इस शाखा के प्रवर्तक थे। उन्होंने आलोचना के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों पक्षों को समृद्ध किया। आलोचना-साहित्य के निर्माताओं में आपका स्थान सर्वश्रेष्ठ है।

निबन्धकार के रूप में उनका विशेष महत्त्व है। उनके निबन्धों की संख्या लगभग चालीस है। इन निबन्धों में प्रमुख रूप से वर्णनात्मक, विचारात्मक तथा वक्तृतात्मक शैलियों के दर्शन होते हैं। इनके अतिरिक्त आलोचनाओं में आपने ऐतिहासिक आलोचना शैली का भी प्रयोग किया है।

इस प्रकार बाबू श्यामसुन्दरदास एक गरिमामय व्यक्तित्व के स्वामी थे जो अपनी अनोखी प्रतिभा से हिन्दी-भाषा तथा साहित्य के पचास वर्षों को अपने व्यक्तित्व में समेट लिया था और आने वाले युग के लिए प्रकाश-स्तम्भ का कार्य किया। गुप्त जी का यह कथन नितान्त सत्य है—

"मातृ भाषा के हुए जो विगत वर्ष पचास।
है उसी का नाम बाबू श्यामसुन्दरदास॥"

भारतीय साहित्य की विशेषताएँ

०८

समस्त भारतीय साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता उसके मूल में स्थित समन्वय की भावना है। उसकी यह विशेषता इतनी प्रमुख तथा मार्मिक है कि केवल इसी के बल पर संसार के अन्य साहित्यों के सामने वह अपनी मौलिकता की पताका फहरा सकता है और अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की सार्थकता प्रमाणित कर सकता है।

जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भारत का ज्ञान, भक्ति तथा कर्म के समन्वय की प्रसिद्धि है तथा जिस प्रकार वर्ण एवं आश्रम-चतुष्टय के निरूपण द्वारा इस देश में सामाजिक समन्वय का सफल प्रयास हुआ है; ठीक उसी प्रकार साहित्य तथा अन्यान्य कलाओं में भी भारतीय प्रवृत्ति समन्वय की ओर रही है।

साहित्य समन्वय से हमारा तात्पर्य साहित्य में प्रदर्शित सुख-दुःख, उत्थान-पतन, हर्ष-विषाद आदि विरोधी तथा विपरीत भावों के समीकरण तथा एक अलौकिक आनन्द में उसके विलीन होने से है।

साहित्य के किसी अंग को लेकर देखिए, सर्वत्र यही समन्वय दिखायी देगा। भारतीय नाटकों में ही सुख और दुःख के प्रबल घात-प्रतिघात दिखाए गए हैं, पर सबका अवसान आनन्द में ही किया गया है। इसका प्रधान कारण यह है कि भारतीयों का ध्येय सदा से जीवन के आदर्श-स्वरूप उपस्थित करके उसका उत्कर्ष बढ़ाने और उसे उन्नत बनाने का रहा है। वर्तमान स्थिति से उसका इतना सम्बन्ध नहीं है जितना भविष्य की संभाव्य उन्नति से है।

हमारे यहाँ यूरोपीय ढंग के दुःखान्त नाटक इसीलिए नहीं देख पड़ते।

यदि आजकल दो-चार नाटक ऐसे देख भी पड़ने लगे हैं, तो वे भारतीय आदर्श से दूर और यूरोपीय आदर्श के अनुकरण मात्र हैं, कविता के ही क्षेत्र में देखिए। यद्यपि विदेशी शासन से पीड़ित तथा अनेक क्लेशों से संतप्त देश निराशा की चरम सीमा तक पहुँच चुका था और उसके सभी अवलम्बों की इति-श्री हो चुकी थी, तथापि भारतीयता के सच्चे प्रतिनीधि तत्कालीन महाकवि गोस्वामी तुलसीदास अपने विकार-रहित हृदय से समस्त जाति को आश्वासन देते हैं—

"भरे भाग अनुराग लोग कहैं राम अवध चितवन चितयी है।
विनती सुन सानन्द हेरि-हँसि करुना-वारि भूमि भिजयी है॥
राम राज भयो काज-सगुन सुभ राजा राम जगत विजयी है।
समरथ वड़ो सुजान सु साहव सुकृत-सेन हारत जितयी है॥"

आनन्द कितनी महान् भावना है। चित्त किसी अनुभूत आनन्द की कल्पना में मानों नाच उठा है। हिन्दी-साहित्य के विकास का समस्त युग विदेशीय तथा विजातीय शासन का युग था, परन्तु फिर भी साहित्यिक समन्वय का भी निरादर नहीं हुआ। आधुनिक युग के हिन्दी कवियों में यद्यपि पश्चिम आदर्शों की छाप पड़ने लगी है और लक्षणों को देखते हुए इस छाप के अधिकाधिक गहरी हो जाने की संभावना होने लगी है; परन्तु जातीय साहित्य की धारा अक्षुण्ण रखने वाले कुछ कवि अब भी हैं।

यदि हम थोड़ा-सा विचार करें, तो उपर्युक्त साहित्यिक समन्वयवाद का रहस्य हमारी समझ में आ सकता है। जब हम थोड़ी देरी के लिए साहित्य को छोड़कर भारतीय कलाओं का विश्लेषण करते हैं, तब उनमें भी साहित्य की ही भाँति समन्वय की छाप दिखाई पड़ती है।

सारनाथ की बुद्ध-भगवान् की मूर्ति में ही समन्वय की यह भावना निहित है। बुद्ध की वह मूर्ति उस समय की है, जब वे छह महीने की कठिन साधना के उपरान्त अस्थि-पंजर मात्र ही रहे होंगे, पर मूर्ति में कहीं कृशता का पता नहीं, उसके चारों ओर एक स्वर्गीय आभा नृत्य कर रही है।

इस प्रकार साहित्य में भी तथा कला में भी एक प्रकार का आध्यात्मिक साम्य देखकर उसका रहस्य जानने की इच्छा और भी प्रबल होती जाती है। हमारे दर्शनशास्त्र हमारी जिज्ञासा का समाधान कर देते हैं। भारतीय दर्शनों के अनुसार परमात्मा तथा जीवात्मा में कुछ भी अन्तर नहीं, दोनों एक ही हैं, दोनों सत्य हैं, चेतन हैं तथा आनन्दस्वरूप हैं।

बन्धन मायाजन्य है। माया अज्ञान है, भेद उत्पन्न करने वाली वस्तु है। जीवात्मा सामान्य अज्ञान को दूर कर अपना स्वरूप पहचानता है और आनन्दमय परमात्मा में लीन हो जाता है। आनन्द में विलीन हो जाना ही मानव-जीवन का परम उद्देश्य है। जब हम इस दार्शनिक सिद्धांत का ध्यान रखते हुए उपर्युक्त समन्वयवाद पर विचार करते हैं, तब सारा रहस्य हमारी समझ में आ जाता है तथा इस विषय में कुछ कहने-सुनने की आवश्यकता नहीं रह जाती है।

भारतीय साहित्य की दूसरी बड़ी विशेषता उसमे धार्मिक भावों की प्रचुरता है। हमारे यहाँ धर्म की बड़ी व्यापक व्यवस्था की गयी है और जीवन के अनेक क्षेत्रों में उनको स्थान दिया गया है। धर्म में धारण करने की शक्ति है। अतः केवल आध्यात्मिक पक्ष मे ही नहीं, लौकिक आचार-विचारों तथा राजनीति तक में उसका नियन्त्रण स्वीकार किया गया है। मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को ध्यान में रखते हुए, अनेक सामान्यतया विशेष धर्मों का निरूपण किया गया है।

वेदों के एकेश्वरवाद, उपनिषदों के ब्रह्मवाद तथा पुराणों के अवतार-वाद और बहुदेववाद की प्रतिष्ठा जन-समाज में हुई है और तदनुसार हमारा धार्मिक दृष्टिकोण भी अधिकाधिक विस्तृत तथा व्यापक होता गया है। हमारे साहित्य पर धर्म की इस अतिशयता का प्रभाव दो प्रधान रूपों मे पड़ा। आध्यात्मिकता की अधिकता होने के कारण हमारे साहित्य में एक ओर तो पवित्र भावनाओं और जीवन संबंधी गहन तथा गंभीर विचारों

की प्रचुरता हुई और दूसरी ओर साधारण लौकिक भावों तथा विचारों का विस्तार अधिक नहीं हुआ।

प्राचीन वैदिक साहित्य से लेकर हिन्दी के वैष्णव साहित्य तक में हम यही बात पाते हैं। सामवेद की मनोहारिणी तथा मृदु-गंभीर ऋचाओं से लेकर सूर तथा मीराँ आदि की सरस रचनाओं तक में सर्वत्र परोक्ष भावों की अधिकता तथा लौकिक विचारों की न्यूनता देखने में आती है।

उपर्युक्त मनोवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि साहित्य में उच्च विचार तथा पूत भावनाएँ तो प्रचुरता से भरी गयीं, परन्तु उसमें लौकिक जीवन की अनेकरूपता का प्रदर्शन न हो सका। हमारी कल्पना अध्यात्म-पक्ष में तो निस्सीम तक पहुँच गई; परन्तु ऐतिहासिक जीवन का चित्र उपस्थित करने में कुछ कुंठित-सी हो गयी। हिन्दी की चरम उन्नति का काल भक्ति-काव्य का काल है, जिसमें उसका साहित्य के साथ हमारे जातीय साहित्य के लक्षणों का सामजस्य स्थापित हो जाता है।

धार्मिकता के भाव से प्रेरित होकर सरस तथा सुन्दर साहित्य का सृजन हुआ, यह वास्तव में हमारे गौरव की वस्तु है, परन्तु समाज में जिस प्रकार धर्म के नाम पर ढोंग रचे जाते हैं तथा गुरुडम की प्रथा चल पड़ती है, उसी प्रकार साहित्य मे भी धर्म के नाम पर पर्याप्त अनर्थ होता है। हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में हम यह अनर्थ दो मुख्य रूपों में पाते हैं।

"एक तो सांप्रदायिक कविता तथा नीरस उपदेशों के रूप में और दूसरा कृष्ण का आधार लेकर की हुई हिन्दी के शृंगारी कवियों के रूप में।"

हिन्दी में सांप्रदायिक कविता का एक युग ही हो गया है और 'नीति' के दोहों की तो अब तक भरमार है। अन्य दृष्टियों से नहीं, तो कम-से-कम शुद्ध साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से ही सही, साम्प्रदायिक तथा उपदेशात्मक साहित्य का अत्यंत निम्न स्थान है; क्योंकि नीरस पदावली में, कोरे उपदेशों में कवित्व की मात्रा बहुत थोड़ी होती है। राधा-कृष्ण को

आलंबन मानकर हमारे शृंगारी कवियों ने अपने कलुषित तथा वासनामय उद्‌गारों को व्यक्त करने का जो ढंग निकाला, वह समाज के लिये हितकर सिद्ध न हुआ।

यद्यपि आदर्श की कल्पना करने वाले कुछ साहित्य-समीक्षक इस शृंगारी कविता में उच्च आदर्शों की उद्भावना कर लेते हैं, पर फिर भी हम वस्तु-स्थिति की किसी प्रकार अवहेलना नहीं कर सकते। सब प्रकार की शृंगारी कविता ऐसी नहीं है कि उसमें शुद्ध प्रेम का अभाव तथा कलुषित वासनाओं का ही अस्तित्व हो; पर यह स्पष्ट है कि पवित्र भक्ति का उच्च आदर्श समय पाकर लौकिक शरीर-जन्य तथा वासना-मूलक प्रेम में परिणत हो गया था।

भारतीय साहित्य की इन दो विशेषताओं का उपर्युक्त विवेचन करके अब हम उसकी दो-एक देशगत विशेषताओं का वर्णन करेंगे।

भारत की शस्य-श्यामा भूमि में जो निसर्ग-सिद्ध सुषमा है, उससे भारतीय कवियों का चिरकाल से अनुराग रहा है, यों तो प्रकृति की साधारण वस्तुएँ भी मनुष्यमात्र के लिए आकर्षण होती हैं, परन्तु उसकी सुन्दरतम विभूतियों में मानव वृत्तियाँ विशेष प्रकार से रमती हैं।

अरब के कवि मरुस्थल में बहते हुए किसी साधारण से झरने अथवा ताड़ के लंबे-लंबे पेड़ों में ही सौन्दर्य का अनुभव कर लेते तथा ऊँटों की चाल में ही सुन्दरता की कल्पना कर लेते हैं; परन्तु जिन्होंने भारत की हिमाच्छा-दित शैल-माला पर संध्या की सुनहरी किरणों की सुषमा देखी है अथवा जिन्हें घनी अमराइयों की छाया में कल-कल ध्वनि से बहती हुई निर्झरिणी तथा उसकी समीपवर्तिनी लताओं की वसन्त-श्री देखने का अवसर मिला है, साथ ही जो यहाँ के विशालकाय हाथियों की मतवाली चाल देख चुके हैं, उन्हें अरब की उपर्युक्त वस्तुओं में सौन्दर्य तो क्या, हाँ उलटे नीरसता, शुष्कता और भद्दापन ही मिलेगा।

भारतीय कवियों को प्रकृति की सुन्दर गोद में क्रीड़ा करने का सौभाग्य

प्राप्त है; वे हरे-भरे उपवनों में तथा सुन्दर जलाशयों के तटों पर विचरण करते तथा प्रकृति के नाना मनोहारी रूपों से परिचित होते हैं। यही कारण है कि भारतीय कवि प्रकृति के संश्लिष्ट तथा सजीव चित्र जितनी मार्मिकता, उत्तमता तथा अधिकता के अंकित कर सकते हैं तथा उपमा-उत्प्रेक्षाओं के लिए जैसी सुन्दर वस्तुओं का उपयोग कर सकते हैं, वैसे सूखे देशों के निवासी कवि नही कर सकते। यह भारत-भूमि की ही विशेषता है कि यहाँ के कवियों का प्रकृति-वर्णन तथा तत्संभव सौन्दर्य-ज्ञान उच्च कोटि का होता है।

प्रकृति के रम्य रूपों से तल्लीनता की जो अनुभूति होती है, उसका उपयोग कविगण, कभी-कभी रहस्यमयी भावनाओं के संचार में भी करते हैं। यह अखंड भू-मण्डल तथा असंख्य ग्रह-उपग्रह, रवि-शशि अथवा जल, वायु, अग्नि, आकाश कितने रहस्यमय तथा अज्ञेय हैं। इनकी सृष्टि के संचालन आदि के संबंध में दार्शनिकों अथवा वैज्ञानिकों ने जिन तत्त्वों का निरूपण किया है, वे ज्ञानगम्य तथा बुद्धिगम्य न होने के कारण नीरस तथा शुष्क हैं।

काव्य-जगत् में इतनी शुष्कता तथा नीरसता से काम नहीं चल सकता; अतः कविगण बुद्धिवाद के चक्कर में पड़कर व्यक्त प्रकृति के नाना रूपों में एक अव्यक्त, किन्तु जीव सत्ता का साक्षात्कार करते तथा उससे भावमग्न होते हैं।

इसे हम प्रकृति-संबंधी रहस्यवाद कह सकते है, और व्यापक रहस्यवाद का एक अंग मान सकते हैं। प्रकृति के विविध रूपों में विविध भावनाओं के उद्रेक की क्षमता होती है; परन्तु रहस्यवादी कवियों को अधिकतर उसके मधुर स्वरूप से प्रयोजन होता है, क्योंकि भावावेश के लिए प्रकृति के मनोहर रूपों की जितनी उपयोगिता है, उतनी दूसरे रूपों की नहीं होती।

यद्यपि इस देश की उत्तरकालीन विचारधारा के कारण हिन्दी में बहुत थोड़े रहस्यवादी कवि हुए हैं, परन्तु कुछ प्रेम-प्रधान कवियों ने भारतीय

महादेवी वर्मा

हिन्दी-साहित्य की अप्रतिम कवयित्री महादेवी वर्मा हिन्दी-गद्य-साहित्य की भी कुशल कलाकार हैं। हिन्दी-साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों की, उनके द्वारा प्रस्तुत, व्याख्याओं ने न केवल उन प्रवृत्तियों को समझने का अवसर दिया है अपितु हिन्दी-साहित्य के वैचारिक स्तर को भी ऊँचा उठाया है। उनकी छायावाद, प्रगतिवाद तथा यथार्थ और आदर्श की व्याख्याएँ ऐतिहासिक महत्त्व को प्राप्त कर चुकी हैं।

महादेवी जी एक उच्चकोटि की निबन्धकार हैं। उनके निबन्धों में हिन्दी साहित्य तथा भारतीय समाज की समस्याओं का अध्ययन मौलिक रूप में मिलता है। 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' और 'साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध' नामक निबन्धों में उनके काव्य तथा साहित्य सम्बन्धी विचारों की अभिव्यक्ति हुई है। उनके सामाजिक विचारों की अभिव्यक्ति 'शृंखला की कड़ियाँ' नामक निबन्ध मे हुई है। महादेवी जी की सामाजिक समस्याओं के केन्द्र में नारी तथा उससे सम्बन्धित समस्याएँ हैं जिन पर महादेवी जी ने व्यापक चिन्तन किया है तथा उनके समाधान के लिए अपने विचार प्रस्तुत किए हैं।

हिन्दी-साहित्य में महादेवी जी को श्रेष्ठ गद्यकार के रूप में सुप्रतिष्ठित कराने में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है उनके रेखाचित्रों व संस्मरणों ने। 'अतीत के चल-चित्र' तथा 'स्मृति की रेखाएँ' में समाज के उन निरीह, विवश प्राणियों का चित्रण है जो निरन्तर दुःख के थपेड़ों को झेल रहे हैं। महादेवी जी की सहानुभूति की सीमा में वे निरीह प्राणी आ गए हैं, जिनमें मुखर मनुष्य भी है और मूक पशु भी। महादेवी जी की भावुक लेखनी का स्पर्श पाकर ये पात्र सजीव हो उठे हैं

और समाज को अपनी दमनीय स्थिति में जीते हुए, एक चुनौती दे रहे हैं।

महादेवी जी की भाषा उनकी भावुकता, बौद्धिकता, कलात्मकता के सर्वथा अनुकूल है। उनकी भाषा-शैली के प्रमुखतः चार रूप मिलते हैं—१. चिन्तन-प्रधान विवेचनात्मक गद्य, २. चित्रण-प्रधान कलात्मक गद्य, ३. ओज-प्रधान व्यंग्य-गर्भित विचारात्मक गद्य तथा ४. इतिवृत्त-प्रधान वस्तु वर्णनात्मक गद्य।

श्रीमती महादेवी वर्मा हिन्दी-साहित्य में गद्य और पद्य की अनन्य साधिका हैं। उन्होंने गद्य-साहित्य को नवीन शैली प्रदान की है। उनके गद्य-साहित्य में आत्मा का सत्य शब्द-शब्द, पंक्ति-पंक्ति में सजीव होकर पाठक के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। उनकी कलात्मक गद्य-शैली अपनी मौलिकता के कारण हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि है।

आधुनिक नारी

⊙⊙

मध्य और नवीन युग के संधिस्थल में नारी ने जब पहले-पहल अपनी स्थिति पर असंतोष प्रकट किया, उस समय उसकी अवस्था उस पीड़ित के समान थी, जिसकी प्रकट वेदना के अप्रकट कारण का निदान न हो सका हो। उससे असह्य व्यथा थी, परन्तु इस विषय में 'कहाँ' और 'क्या' का कोई उत्तर न मिलता था। अधिक गूढ़ कारणों की छानबीन करने का उसे अवकाश भी न था, अतः उसने पुरुष से अपनी तुलना करके जो अन्तर पाया, उसी को अपनी दयनीय स्थिति का स्पष्ट कारण समझ लिया। इस क्रिया से उसे अपनी व्याधि के कुछ कारण भी मिले सही; परन्तु यह धारणा नितान्त निर्मूल नहीं कि इस खोज में कुछ भूलें भी संभव हो सकीं। दो वस्तुओं का अन्तर सदैव ही उनकी श्रेष्ठता और हीनता का द्योतक नहीं होता, यह मनुष्य प्रायः भूल जाता है। नारी ने भी यही चिर-परिचित भ्रान्ति अपनायी। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, शारीरिक विकास के विचार से और सामाजिक जीवन की व्यवस्था से स्त्री और पुरुष में विशेष अन्तर रहा है और भविष्य में भी रहेगा; परन्तु यह मानसिक या शारीरिक भेद न किसी की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करता है और न किसी की हीनता का विज्ञापन करता है; स्त्री ने स्पष्ट कारणों के अभाव में इस अन्तर को विशेष त्रुटि समझा, केवल यही सत्य नहीं है, वरन् यह भी मानना होगा कि उसने सामाजिक अन्तर का कारण ढूँढ़ने के लिए स्त्रीत्व को क्षत-विक्षत कर डाला।

उसने निश्चय किया कि उस भावुकता को आमूल नष्ट कर डालेगी, जिसका आश्रय लेकर पुरुष उसे रमणी समझता है, उस गृह-बन्धन को छिन्न-भिन्न कर देगी, जिसकी सीमा ने उसे पुरुष की भार्या बना दिया है।

और उस कोमलता का नाम भी न रहने देगी, जिसके कारण वाह्य जगत् के कठोर संघर्ष से वचने के लिए पुरुष के निकट रक्षणीया होना पड़ा है। स्त्री ने सामूहिक रूप से जितना पुरुष जाति को दिया उतना उससे पाया नहीं, यह निर्विवाद सिद्ध है; परन्तु इस आदान-प्रदान की विपमता के मूल में स्त्री और पुरुष की प्रकृति भी कार्य करती है, यह न भूलना चाहिए। स्त्री अत्यधिक त्याग इसलिए नहीं करती; अत्यधिक सहनशील इसलिए नहीं होती कि पुरुष उसे हीन समझकर इसके लिए वाध्य करता है। यदि हम ध्यान से देखेंगे, तो ज्ञात होगा कि उसे यह गुण मातृत्व की पूर्ति के लिए प्रकृति से मिले हैं। यह अच्छे हैं या वुरे, इसकी विवेचना से विशेष अर्थ नहीं निकलेगा; जानना इतना ही है कि यह प्राकृतिक है या नही। इस विषय में स्त्री स्वयं भी अंधकार में नहीं है वह अपनी प्रकृतिजनित कोमलता को त्रुटि चाहे मानती हो, परन्तु उसे स्वाभाविक अवश्य समझती है, अन्यथा उसके इतने प्रयास का कोई अर्थ न होता। परिस्थितिजन्य दोप जितने शीघ्र मिट सकते हैं, उतने शीघ्र संस्कारजन्य नहीं मिटते, यही विचार स्त्री को आवश्यकता से अधिक कठोर वने रहने को विवश कर देता है; परन्तु यह कठिनता इतनी सयत्न होती है कि स्त्री स्वयं भी सुखी नही हो पाती। कवच वाहर की वाण-वर्षा से शरीर को वचाता रहता है, परन्तु अपना भार शरीर पर डाले विना नहीं रह सकता है।

आधुनिक स्त्री ने अपने जीवन को इतने परिश्रम और यत्न से जो रूप दिया है, वह कितना स्वाभाविक हो सकता है, यह कहना अभी संभव नहीं। हाँ, इतना कह सकते हैं कि वह बहुत सुन्दर भविष्य का परिचायक नहीं जान पड़ता। स्त्री के लिए यदि उसे किसी प्रकार उपयोगी समझ भी लिया जाये तो भावी नागरिकों के लिए उसकी उपयोगिता समझ सकना कठिन ही है।

आधुनिकता की वायु में पली स्त्री का यदि स्वार्थ में केन्द्रित विकसित रूप देखना हो, तो हम उसे पश्चिम में देख सकेंगे। स्त्री वहाँ आर्थिक

दृष्टि से स्वतन्त्र हो चुकी है, अतः सारे सामाजिक बन्धनों पर उसका अपेक्षाकृत अधिक प्रभुत्व कहा जा सकता है। उसे पुरुष के मनोविनोद की वस्तु बने रहने की आवश्यकता नहीं है, अतः वह चाहे तो परम्परागत रमणीत्व को तिलांजलि देकर सुखी हो सकती है, परन्तु उसकी स्थिति क्या प्रमाणित कर सकेगी कि वह आदिम नारी की दुर्बलता से रहित है। संभवतः नहीं। शृंगार के इतने संख्यातीत उपकरण, रूप को स्थिर रखने के इतने कृत्रिम साधन, आकर्षित करने के उपहास योग्य प्रयास आदि क्या इस विषय में कोई संदेह का स्थान रहने देते हैं? नारी का रमणीत्व नष्ट नहीं हो सका, चाहे उसे गरिमा देने वाले गुणों का नाश हो गया। यदि पुरुष को उन्मत्त कर देने वाले रूप की इच्छा नहीं मिटी, उसे बाँध रखने वाले आकर्षण की खोज नहीं की गई, तो फिर नारीत्व की ही उपेक्षा क्यों की गई, यह कहना कठिन है। यदि भावुकता ही लज्जा का कारण थी, तो उसे समूल नष्ट कर देना था, परन्तु आधुनिक नारी ऐसा करने में भी असमर्थ रही। जिस कार्य को वह बहुत सफलतापूर्वक कर सकी है, वह प्रकृति से विकृति की ओर जाना मात्र था। वह अपनी प्रकृति को, वस्त्रों के समान जीवन का बाह्य आच्छादन मात्र बनाना चाहती है, जिसे इच्छा और आवश्यकता के अनुसार जब चाहे पहना या उतारा जा सके। बाहर संघर्षमय जीवन में जिस पुरुष को नीचा दिखाने के लिए वह सभी क्षेत्रों में कठिन से कठिन परिश्रम करेगी, जीवनयापन के लिए आवश्यक प्रत्येक वस्तु को अपने स्वेदकणों से तौलकर स्वीकार करेगी, उसी पुरुष में, नारी के प्रति जिज्ञासा जाग्रत रखने के लिए वह अपने सौन्दर्य और अंग-सौष्ठव के रक्षार्थ असाध्य से असाध्य कार्य करने के लिए प्रस्तुत है। आज उसे अपने रूप अपने शरीर और अपने आकर्षण का जितना ध्यान है, उसे देखते हुए कोई भी विचारशील, स्त्री को स्वतन्त्र न कह सकेगा।

स्त्री के प्रति पुरुष की एक रहस्यमयी जिज्ञासा सृष्टि के समान ही चिरन्तन है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता, परन्तु यह जिज्ञासा

इनके संबंध का 'अथ' और 'इति' नहीं। प्राचीन नारी ने इस अर्थ से आरंभ करके पुरुष से अपने संबंध को ऐसी स्थिति में पहुँचा दिया, जहाँ उन दोनों के स्वार्थ एक और व्यक्तित्व सापेक्ष हो गए। यही नारी की विशेषता थी, जिसने उसे मनोविनोद के सुन्दर साधनों की श्रेणी से उठाकर गरिमामयी विधात्री के ऊँचे आसन पर प्रतिष्ठित कर दिया।

आधुनिक नारी पुरुष के और अपने संबंध को रहस्यमयी जिज्ञासा से आरंभ करके उसे वहीं स्थिर रखना चाहती है, जो संभवतः उसे किसी स्थायी आदान-प्रदान का अधिकार नहीं देता। संध्या के रंगीन बादल या इन्द्रधनुष के रंग हमें क्षणभर विस्मय-विमुग्ध कर सकते है; किन्तु इससे अधिक उनकी कोई सार्थकता हो सकती है, यह सोचना भी नहीं चाहिए। आज की सुन्दर नारी भी पुरुष के निकट और विशेष महत्त्व नहीं रखती। उसे स्वयं भी इस कटु सत्य का अनुभव होता है; परन्तु वह उसे परिस्थिति का दोषमात्र समझती है। आज पुरुष के निकट स्त्री प्रसाधित शृंगारित स्त्रीत्व मात्र लेकर खड़ी है, यह वह मानना नहीं चाहती; परन्तु वास्तव में यही सत्य है। पहले नारी की जाति केवल रूप और वय का पाथेय लेकर संसार-यात्रा के लिए नहीं निकली थी। उसने संसार को वह दिया, जो पुरुष नहीं दे सकता था, अतः उसके अक्षय वरदान का वह आज तक कृतज्ञ है। यह सत्य है कि उसके अयाचित वरदान को संसार अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझने लगा, जिससे विकृति भी उत्पन्न हो गई, परन्तु उसके प्रतिकार के जो उपाय हुए, वे उस विकृति को दूसरी ओर फेरने के अतिरिक्त और कुछ न कर सके।

पश्चिम में स्त्रियों ने बहुत कुछ प्राप्त कर लिया; परन्तु सब कुछ पाकर भी उनके भीतर की चिरन्तन नारी नहीं बदल सकी। पुरुष उनके नारीत्व की उपेक्षा करे, यह उसे भी स्वीकार न हुआ, अतः वह अथक मनोयोग से अपने वाह्य आकर्षण को बढ़ाने और स्थायी रखने का प्रयत्न

करने लगी। पश्चिम की स्त्री की स्थिति में जो विशेषता है, उसके मूल में पुरुष के प्रति उसकी स्पर्धा के साथ ही उसे आकर्षित करने की प्रवृत्ति भी कार्य करती है। पुरुष भी उसकी प्रवृत्ति से अपरिचित नहीं रहा, इसी से उसके व्यवहार में मोह और अवज्ञा ही प्रधान है। स्त्री यदि रंगीन खिलौने के समान आकर्षक है, तो वह विस्मय-विमुग्ध हो उठेगा; यदि नहीं, तो वह उसे उपेक्षा की वस्तुमात्र समझेगा। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि दोनों ही स्थितियाँ स्त्री के लिए अपमानजनक हैं। पश्चिमीय स्त्री की स्थिति का अध्ययन कर यदि हम अपने देश की आधुनिकता से प्रभावित महिलाओं का अध्ययन करें, तो दोनों ही ओर असंतोष और उसके निराकरण में विचित्र साम्य मिलेगा।

हमारे यहाँ की स्त्री शताब्दियों से अपने अधिकारों से वंचित चली आ रही है। अनेक राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों ने उसकी अवस्था में परिवर्त्तन करते-करते उसे जिस अधोगति तक पहुँचा दिया है, यह दयनीयता की सीमा के अतिरिक्त और कुछ नहीं कही जा सकती। इस स्थिति को पहुँचकर भी जो व्यक्ति असंतोष प्रकट नहीं करता, उसे उस स्थिति के योग्य ही समझना चाहिए। कोमल तूल-सी वस्तु भी बहुत दबाये जाने पर अन्त में कठिन जान पड़ने लगती है। भारतीय स्त्री भी एक दिन विद्रोह कर ही उठी। उसने भी पुरुष के प्रभुत्व का कारण अपनी कोमल भावनाओं को समझा और उन्हीं को परिवर्त्तित करने का प्रयत्न किया। अनेक सामाजिक रूढ़ियों और परम्परागत संस्कारों के कारण उसे पश्चिमीय स्त्री के समान न सुविधाएँ मिलीं और न सुयोग, परन्तु उसने उन्हीं को अपना मार्ग-प्रदर्शक बनाना निश्चित किया।

शिक्षा के नितान्त अभाव और परिस्थितियों की विषमता के कारण कम स्त्रियाँ इस प्रगति को अपना सकीं और जिन्होंने इन बाधाओं से ऊपर उठकर इन्हें अपनाया भी, उन्हें इसका बाह्य रूप भी अधिक आकर्षक लगा। भारतीय स्त्री ने भी अपने आपको पुरुष की प्रतिद्वंद्विता में पूर्ण देखने की

कल्पना की, परन्तु केवल इसी के रूप से उसकी चिरन्तन नारी-भावना संतुष्ट न हो सकी। उसकी भी प्रकृतिजन्य कोमलता अस्ति-नास्ति के बीच में डगमगाती रही। कभी उसने संपूर्ण शक्ति से उसे दबाकर अपनी ऐसी कठोरता प्रकट की, जो उसके कुचले मर्मस्थल का विज्ञापन करती थी और कभी क्षणिक आवेश में प्रयत्न प्राप्त निष्ठुरता का आवरण उतार कर अपने अहेतुक हल्केपन का परिचय दिया। पुरुष कभी उससे वैसे ही भयभीत हुआ, जैसे सज्ञान विक्षिप्त से होता है और कभी वैसे ही उस पर हँसा, जैसे बड़ा व्यक्ति बालक के आयास पर हँसता है। कहना नहीं होगा कि पुरुष के ऐसे व्यवहार से स्त्री का और अधिक अनिष्ट हुआ, क्योंकि इससे अपनी योग्यता का परिचय देने के साथ-साथ अपने ज्ञान और बड़े होने का प्रमाण देने का प्रयास भी करना पड़ा। उसके सारे प्रयत्न और आयास अपनी अनावश्यकता के कारण ही कभी-कभी दयनीय से जान पड़ते है, परन्तु वह करे भी तो क्या करे! एक ओर परम्परागत सस्कार ने उसके हृदय में यह भाव भर दिया है कि पुरुप विचार, बुद्धि और शक्ति में उससे श्रेष्ठ है और दूसरी ओर उसके भीतर की नारी-प्रवृत्ति भी उसे स्थिर नहीं रहने देती। इन्हीं दोनों भावनाओं के बीच में उसे अपनी ऐसी आश्चर्यजनक क्षमता का परिचय देना है, जो उसे पुरुष के समकक्ष बैठा दे। अच्छा होता यदि स्त्री प्रतिद्वंद्विता के क्षेत्र में बिना उतरे हुए ही अपनी उपयोगिता के बल पर स्वत्वों की माँग सामने रखती, परन्तु परिस्थितियाँ इसके अनुकूल नहीं थीं। जो अप्राप्त है, उसे पा लेना कठिन नहीं है; परन्तु जो प्राप्त था, उसे खोकर फिर पाना अत्यधिक कठिन है। एक में पानेवाले की योग्यता संभावित रहती है और दूसरे में अयोग्यता, इसी से एक का कार्य उतना श्रमसाध्य नहीं होता, जितना दूसरे का। स्त्री के अधिकारों के विषय में भी यही सत्य है।

(२)

इस समय हम जिसे आधुनिक काल की प्रतिनिधि के रूप में देखते है, वे महिलाएँ तीन श्रेणियों में रखी जा सकती हैं। त्रिवेणी की तीन धाराओं

के समान वे एक-सी होकर भी अपनी विशेषताओं में भिन्न है । कुछ ऐसी हैं, जिन्होंने अपने युगान्त दीर्घ बन्धनों की अवज्ञा कर पिछले कुछ वर्षों में राजनीतिक आन्दोलन को गतिशील बनाने के लिए पुरुषों को अभूतपूर्व सहायता दी। कुछ ऐसी शिक्षिताएँ हैं, जिन्होंने अपनी अनुकूल परिस्थितियों में भी सामाजिक जीवन की त्रुटियों का कोई उचित समाधान न पाकर अपनी शिक्षा और जागृति को आजीविका और सार्वजनिक उपयोग का साधन बनाया और कुछ ऐसी संपन्न महिलाएँ हैं, जिन्होंने थोड़ी-सी शिक्षा के साथ बहुत-सी पाश्चात्य आधुनिकता का संयोग कर अपने गृह-जीवन को एक नवीन सांचे में ढाला है।

यह कहना अनुचित होगा कि प्रगतिशील नारी-समाज के ये विभिन्न विभाग, किसी वास्तविक अन्तर के आधार पर स्थित हैं, क्योंकि ऐसे विभाग ऐसी विशेपताओ पर आश्रित होते हैं, जो जीवन के गहन तल में एक हो जाती हैं।

यह समझना कि राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेनेवाली स्त्रियाँ अन्य क्षेत्रों में कार्य नहीं करती, या शिक्षा आदि क्षेत्रों में कार्य करने वाली पाश्चात्य आधुनिकता से दूर रह सकी हैं, भ्रान्तिपूर्ण धारणा के अतिरिक्त और कुछ नही है। वास्तव में ये श्रेणियाँ उनके बाह्य जीवन के सादृश्य के भीतर कार्य करने वाली वृत्तियों को समझाने के लिए ही हैं। आधुनिकता की एकरूपता को भारतीय जाग्रत महिलाओं ने अनेक रूपों में ग्रहण किया है, जो स्वाभाविक ही था। ऐसी कोई नवीनता नहीं है, जो प्रत्येक व्यक्ति को भिन्न रूप में नवीन नही दिखाई देती, क्योंकि देखने वाले का भिन्न दृष्टिकोण ही उसका आधार होता है। प्रत्येक स्त्री ने अपनी असुविधा, अपने सुख-दुःख और अपने व्यक्तिगत जीवन के भीतर से इस नवीनता पर दृष्टिपात किया, अतः प्रत्येक को उसमें अपनी लवलेश त्रुटियों के समाधान के चिह्न दिखाई पड़े।

इन सब के आचरणों को भिन्न-भिन्न रूप से प्रभावित करने वाले

दृष्टिकोणों का पृथक्-पृथक् अध्ययन करने के उपरान्त ही हम आधुनिकता के वातावरण में विकसित नारी की कठिनाइयाँ समझ सकेंगे। उनकी स्थिति प्राचीन रूढ़ियों के बन्धन में बन्दिनी स्त्रियों की स्थिति से भिन्न जान पड़ने पर भी उससे स्पृहणीय नहीं है। उन्हें प्राचीन विचारों का उपासक पुरुष-समाज अवहेलना की दृष्टि से देखता है। आधुनिक दृष्टि-कोण वाले समर्थन का भाव रखते हुए भी क्रियात्मक सहायता देने में असमर्थ रहते हैं और उग्र विचार वाले प्रोत्साहन देकर भी उन्हें अपने साथ ले चलना कठिन समझते हैं। वस्तुतः आधुनिक स्त्री जितनी अकेली है, उतनी प्राचीन नहीं; क्योंकि उसके पास निर्माण के उपकरण मात्र हैं, कुछ निर्मित नहीं। चौराहे पर खड़े होकर मार्ग का निश्चय करने वाले व्यक्ति के समान वह सब के ध्यान को आकर्षित करती रहती हैं, किसी से कोई सहायतापूर्ण सहानुभूति नहीं पातीं। यह स्थिति आकर्षक चाहे जान पड़े, परन्तु सुखकर नहीं कही जा सकती।

राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने वाली महिलाओं ने आधुनिकता को राष्ट्रीय जागृति के रूप में देखा और उसी जागृति की ओर अग्रसर होने में अपने सारे प्रयत्न लगा दिए। उस उथल-पुथल के युग में स्त्री ने जो किया वह अभूतपूर्व होने के साथ-साथ उसकी शक्ति का प्रमाण भी था। यदि उसके बलिदान, उसके त्याग भूले जा सकेंगे, तो उस आन्दोलन का इतिहास भी भूला जा सकेगा। इस प्रगति द्वारा सार्वजनिक रूप से स्त्री-समाज को भी लाभ हुआ। उसके चारों ओर फैली हुई दुर्बलता नष्ट हो गयी, उसकी कोरी भावुकता छिन्न-भिन्न हो गई और उसके स्त्रीत्व से शक्तिहीनता का लांछन दूर हो गया। पुरुष ने अपनी आवश्यकतावश ही उसे साथ आने की आज्ञा दी, परन्तु स्त्री ने उससे पग मिलाकर चलकर प्रमाणित कर दिया कि पुरुष ने उसकी गति पर बन्धन लगाकर अन्याय ही नहीं, अत्याचार भी किया है। जो पंगु है, उसी के साथ गतिहीनता होने का अभिशाप लगा है। गतिवान् को पंगु बनाकर रखना, बड़ी क्रूरता है।

राष्ट्र को प्रगतिशील बनाने में स्त्री ने अपना भी कुछ हित-साधन किया, यह सत्य है; परन्तु मधु के साथ कुछ क्षार भी मिला था। उसने जो पाया, वह भी बहुमूल्य है और जो खाया वह भी बहुमूल्य था, इस कथन में विचित्रता के साथ-साथ सत्य भी समाहित है।

आन्दोलन के समय जिन स्त्रियों ने आधुनिकता का आह्वान सुना, उसमें सभी वर्गों की शिक्षिता स्त्रियां रही। उनकी नेत्रियों के पास इतना अवकाश नही था कि वे उन सब के बौद्धिक विकास की ओर ध्यान दे सकतीं।

यह सत्य है कि उन्हें कठोरतम संयम सिखाया, परन्तु वह सैनिकों के संयम के समान एकांगी रहा। वे यह न जान सकी कि युद्ध-भूमि में प्रतिक्षण मरने के लिए प्रस्तुत सैनिक का संयम, समाज में युग तक जीवित रहने के इच्छुक व्यक्ति संयम से भिन्न हैं। एक बन्धनों की रक्षा के लिए प्राण देता है, तो दूसरा बन्धनों की उपयोगिता के लिए जीवित रहता है। एक अच्छा सैनिक मरना सिखा सकता है और एक सच्चा नागरिक जीना; एक में मृत्यु का सौन्दर्य है और दूसरे में जीवन का वैभव, परन्तु, अच्छे सैनिक का अच्छा नागरिक होना यदि अवश्यम्भावी होता, तो संभवतः जीवन अधिक सुन्दर बन गया होता।

स्वभावतः ही सैनिक का जीवन उत्तेजना-प्रधान होगा और नागरिक का संवेदना-प्रधान। इसी से एक के लिए जो सहज है, वह दूसरे के लिए असंभव नही, तो कष्टसाध्य अवश्य है।

आन्दोलन के समय में स्त्रियों ने तात्कालिक संयम और उससे उत्पन्न कठोरता को जीवन का आवश्यक अंग मानकर स्वीकार किया, अपने प्रस्तुत उद्देश्य का साधन मात्र मानकर नही। इससे उनके जीवन में जो एक दक्षता व्याप्त हो गई है, उसने उन्हीं तक सीमित न रहकर उनके सुरक्षित गृहजीवन को भी स्पर्श किया है। वास्तव में उनमें से अधिकांश महिलाएँ रूढ़ियों के भार से दबी जा रही थी, अतः देश की जागृति के साथ-साथ उनकी क्रांति ने

भी आत्म-विज्ञापन का अवसर और उसके उपयुक्त साधन पा लिए। वही इन परिस्थितियों में स्वाभाविक भी था; परन्तु वे यह स्मरण न रख सकीं कि विद्रोह केवल जीवन के विशेष विकास का साधन होकर ही उपयोगी रह सकता है। वह सामाजिक शक्ति का परिचय नहीं, उसके संतोष की अभिव्यक्ति है।

उस करुण युग के अनुष्ठान में भाग लेने वाली स्त्रियों ने जीवन की सारी सुकोमल कला नष्ट करके संसार-संग्राम में विद्रोह को अपना अमोघ अस्त्र बनाया। समाज उनके त्याग पर श्रद्धा रखता है, परन्तु उनकी विद्रोहमयी रुक्षता से भयभीत है। जीवन का पहले से सुन्दर और पूर्ण चित्र उनमें नहीं मिलता; अतः अनेक आधुनिकता के पोषक भी उन्हें संदिग्ध दृष्टि से देखते हैं। अनन्त काल से स्त्री का जीवन तरल पदार्थ के समान सभी परिस्थितियों के उपयुक्त बनता आ रहा है, इसलिए उसकी कठिनता आश्चर्य और भय का कारण बन गई है। अनेक व्यक्तियों की धारणा है कि उच्छृंखलता की सीमा का स्पर्श करती हुई स्वतन्त्रता, प्रत्येक अच्छे-बुरे बन्धन के प्रति उपेक्षा का भाव अनेक अच्छे-बुरे व्यक्तियों से सख्यत्व और अकारण कठोरता आदि उनकी विशेषताएँ हैं। इस धारणा में भ्रांति का भी समावेश है; परन्तु यह नितान्त निर्मूल नहीं कही जा सकती। अनेक परिवारों में जीवन की कटुता का प्रत्यक्षीकरण स्त्रियों की कठोरता का सीमातीत हो जाना ही है, यह सत्य है, परन्तु इसके लिए केवल स्त्रियाँ ही दोषी नहीं ठहराई जा सकतीं। परिस्थिति इतनी कठोर थी कि उन्हें उस पर विजय पाने के लिए कठोरतम अस्त्र ग्रहण करना पड़ा। उनमें जो विचारशील थीं, उन्होंने प्राचीन नारियों के समान कृपाण और कंकण का संयोग कर दिया, जो नहीं थीं उन्होंने अपने स्त्रीत्व से अधिक विद्रोह पर विश्वास किया। वे जीने की कला नहीं जानतीं, परन्तु संघर्ष की कला जानती हैं, जो वास्तव में अपूर्ण हैं। संघर्ष की कला लेकर तो मनुष्य उत्पन्न ही हुआ है, उसे सीखने कहीं जाना नहीं पड़ता। यदि वास्तव में मनुष्य ने इतने युगों में कुछ सीखा है, तो वह जीने की कला

कही जा सकती है। संघर्ष जीवन का आदि हो सकता है; अन्त नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि संघर्षहीन जीवन ही जीवन है। वास्तव में मनुष्य जाति नष्ट करने वाले संघर्ष से अपने आपको बचाती हुई विकास करने वाले संघर्ष की ओर बढती जाती है।

सामाजिक प्रगति का अर्थ भी यही है कि मनुष्य अपनी उपयोगिता बढाने के साथ-साथ नष्ट करने वाली परिस्थितियों की संभावना कम करता चले। किसी परिस्थिति में वह हिम के समान अपने स्थान पर स्थिर हो जाता है और किसी परिस्थिति में वह जल के ससान तरल होकर अज्ञात दिशा में वह चलता है। स्त्री का जीवन भी अपने विकास के लिए ऐसी ही अनुकूलता चाहता है, परन्तु सामाजिक जीवन में परिस्थिति की अनुकूलता में विविधता है। हम अपना एक ही केन्द्र-विन्दु बनाकर जीवन-संघर्ष में नहीं ठहर सकते और न अपना कल्याण ही कर सकते हैं। स्त्री की जीवन-शक्ति का ह्रास इसी कारण हुआ कि वह अपने को अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति के अनुरूप बनाने में असमर्थ रही। उसने एक केन्द्र-विन्दु पर अपनी दृष्टि को तब तक स्थिर रक्खा, जब तक चारों ओर की परिस्थितियों ने उसकी दृष्टि नहीं रोक ली। उस स्थिति में प्रकाश से अचानक अन्धकार में आए हुए व्यक्ति के समान वह कुछ भी न देख सकी। फिर भी, प्रकृतिस्थ होने पर उसने वही पिछला अनुभव दोहराया।

जागृत-युग की उपासिकाओं के जीवन भी त्रुटि से रहित नहीं रहे। उन्होंने अपनी दृष्टि का एक ही केन्द्र कर रक्खा है, अतः उन्हें अपने चारों ओर के संदिग्ध वातावरण को देखने का न अवकाश है और न प्रयोजन। वे समझती हैं कि वे राष्ट्रीय जागृति की अग्रदूती के अतिरिक्त और कुछ न बनकर भी अपने जीवन को सफलता के चरम सोपान तक पहुँचा देंगी। इस दिशा में उनकी गति का अवरोध करने वालों की संख्या कम नहीं रही, यह सत्य है; परन्तु इसीलिए वे अपना गन्तव्य भी नहीं देखना चाहतीं, यह कहना बहुत तर्कपूर्ण नहीं कहा जा सकता। ऐसा कोई त्याग या बलिदान

नहीं, जिसका उद्‌गम नारीत्व न रही हो, अतः केवल त्याग के अधिकार को पाने के लिए अपने-आपको ऐसा रुक्ष वना लेने की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती।

जिन शिक्षिताओं ने गृह के वन्धनों की अवहेलना कर सार्वजनिक क्षेत्र में अपना मार्ग प्रशस्त किया, उनकी कहानी भी वहुत कुछ ऐसी ही है। उनके सामने नवीन युग का आह्वान और पीछे अनेक रूढ़ियों का भार था। किसी विशेष न्याय या वलिदान की भावना लेकर वे नये जीवन-संग्राम में अग्रसर हुई थीं, यह कहना सत्य न होगा। वास्तव में गृह की सीमा में उनसे इतना अधिक त्याग और वलिदान माँगा गया कि वे उसके प्रति विद्रोह कर उठीं। स्वेच्छा से दी हुई छोटी-से-छोटी वस्तु भी मनुष्य का दान कहलाती है, परन्तु अनिच्छा से दिया हुआ अधिक-से-अधिक द्रव्य भी मनुष्य का अधीनता-सूचक कर ही समझा जायगा। स्त्री को जो कुछ वलात् देना पड़ता है, वह उसके दान की महिमा न वढ़ा सकेगा, यह शिक्षिता स्त्री भली-भाँति जान गई थी।

भविष्य में भारतीय समाज की क्या रूपरेखा हो, उसमें नारी की कैसी स्थिति हो, उसके अधिकारों की क्या सीमा हो, आदि समस्याओं का समाधान, आज की जाग्रत और शिक्षिता नारी पर निर्भर है। यदि वह अपनी दुरवस्था के कारणों को स्मरण रख सके और पुरुष की स्वार्थपरता को विस्मरण कर सके, तो भावी समाज का स्वप्न सुन्दर और सत्य हो सकता है; परन्तु यदि वह अपने विरोध को ही चरम लक्ष्य मान ले और पुरुष से समझौते के प्रश्न को ही पराजय का पर्याय समझ ले, तो जीवन की व्यवस्था अनिश्चित और विकास का क्रम शिथिल होता जायगा।

क्रांति की अग्रदूती और स्वतन्त्रता की ध्वजा-धारिणी नारी का कार्य जीवन के स्वस्थ निर्माण में शेष होगा, केवल ध्वंस में नहीं।

●

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

(सन् १९०६---१९६७ ई०)

हिन्दी-साहित्य के गगनमंडल पर पं० नन्ददुलारे वाजपेयी का उदय एक समर्थ ओजस्वी आलोचक के रूप में हुआ था। शैली की दृष्टि से आपकी आलोचना के दो रूप मिलते हैं---एक तो व्याख्यात्मक तथा दूसरी विवेचनात्मक। व्याख्या को प्रभावशाली बनाने के लिए कहीं-कहीं आप तुलना का सहारा भी ले लेते हैं। जैसे, 'साकेत' की आधुनिकता पर विचार करते समय आपने 'कामायनी', 'कुरुक्षेत्र' और 'मानस' सभी का उल्लेख किया है।

वाजपेयी जी की शैली में व्यंग्य का सटीक प्रयोग हुआ है। उनके व्यंग्य मर्यादित, संयमित पर अचूक प्रभाव डालने वाले होते हैं।

वाजपेयी जी की भाषा गहन, बौद्धिक तथा सूक्ष्म विचारों के सर्वथा उपयुक्त है। उनकी भाषा में गंभीरता है, संयम है, परिमार्जन है। सूक्ष्म एवं गहन विचारों का वहन करते हुए भी उनकी भाषा कहीं भी बोझिल नहीं हुई है, अपितु वह सर्वत्र प्रवाहपूर्ण है। विषयानुसार आपकी भाषा में सामान्य बोलचाल के शब्द तथा अंग्रेजी भाषा के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। वस्तुतः उनकी समीक्षाओं तथा निबन्धों की भाषा उनके सुसंस्कृत व्यक्तित्व की परिचायक है।

इस प्रकार आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी एक प्रखर, ओजस्वी आलोचक तथा कुशल निबन्धकार के रूप में सुप्रतिष्ठित हैं। परन्तु मूलतः वह एक उच्चकोटि के आलोचक हैं। उनकी आलोचना का क्षेत्र भी विस्तृत है। उन्होंने द्विवेदी-युग के कवियों तथा लेखकों से आरम्भ करके नयी कविता के कवियों तथा नवीन उपन्यासों एवं नाटकों के रचयिताओं तक को अपनी समीक्षा का विषय बनाया है।

इस प्रकार वाजपेयी जी हिन्दी-आलोचना के वह सुदृढ़ आधार-स्तम्भ है, जिनका महत्त्व सदा स्मरणीय रहेगा।

साहित्य और जीवन

⊙⊙

हमारी हिन्दी में और अन्यत्र भी इन दिनों साहित्य और जीवन में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने की जोरदार माँग बढ़ रही है। आज परिस्थिति ऐसी प्रवेगपूर्ण है कि इस माँग की खूब कद्र की जा रही और खूब दाद दी जा रही है। स्कूलों और कालेजों के विद्यार्थी बड़ी उमंग के साथ इस विषय के व्याख्यान सुनते और ताली बजाते हैं। लेखकगण घर के बाहर स्वदेशी लिबास में रहने मे प्रतिष्ठा पाते हैं और समालोचकगण उत्कर्षपूर्ण साहित्यकार की अपेक्षा जेल का चक्कर लगा आने वाले सैनिक साहित्यिक के बड़े गुण-गान करते हैं। पत्र-पत्रिकाओं में जोशीले लेख छपते है जो जीवन और साहित्य को एकाकार करने के एक कदम और आगे बढ़कर लेखों को लेखकों के खून से सराबोर देखना चाहते हैं। एक प्रकार का उन्माद उत्पन्न किया जाता है जो साहित्य-समीक्षा को जड़ से उखाड़ फेंकने का सरंजाम आयोजन करेगा और जीवन को नितांत उग्र और, सम्भव है, पाखंडपूर्ण भी बना देगा। बंगाल में ऐसे ही विचार-प्रवाह के कारण, महाकवि रवीन्द्रनाथ को, कियत्काल के लिए ही सही, धक्का उठाना पड़ता है और आज हिन्दी में भी हवा चल रही है। हम जिस सकीर्ण वात्याचक्र में घिरे हुए साँस ले रहे हैं, उसमें यदि साहित्य को राजनीतिक प्रोपेगण्डा का साधन बनाया जाय तो यह स्वाभाविक है। ऐसा अन्य देशों में भी होता रहा है। पर इसे ही साहित्यिक समीक्षा की स्थिर कसौटी बनाने और इसी के अनुसार उपाधि-वितरण करने का हम समर्थन नहीं करते।

साहित्य और जीवन का सम्बन्ध देखने के लिए क्षणिक राष्ट्रीय

आवश्यकताओं की परिधि से ऊपर उठने की आवश्यकता है। हम साहित्य के आकाश में क्षितिज के पास रक्तिम वर्ण ही को न देखें। सम्पूर्ण सौरमण्डल और उसके अपार विस्तार, अगणित रंग-रूप के भी दर्शन करें। साहित्य की शब्दावली में हम क्षणिक मिथ्या यथार्थ को ग्रहण करने में लगकर वास्तविक यथार्थ का तिरस्कार न करें जो विविध आदर्शों से सुसज्जित है। हम साहित्य और जीवन का सम्बन्ध अत्यंत व्यापक अर्थ में मानें। देश और काल की सुविधा के ही मोह में न पड़ें।

साहित्य के साथ जीवन का सम्बन्ध स्थापित करने का आग्रह यूरोप में पिछली बार फ्रेंच-राज्य-क्रांति के उपरांत किया गया और हमारे देश में आधुनिक रूप में, यह अभी कल की वस्तु है। इंगलैण्ड मे वर्ड्सवर्थ और फ्रांस मे विक्टर ह्यूगो आदि साहित्यकार इस विचार शैली के आविर्भाव करने वालों में से हैं। प्रारम्भ में इसका रूप अत्यन्त समीचीन था। यूरोप का मध्यकालीन जीवन असंगत हो गया था। उसके स्थान में नवीन जीवन का उदय हुआ था, जिसके मूल में बड़ी ही सरल और सात्विक भावनाएँ थी। नवीन जीवन के उपयुक्त ही नवीन समाज का विकास हुआ और इसी विकास के अनुकूल साहित्य में भी प्रकृति-प्रेम, सरल जीवन आदि की भावनाएँ देख पड़ी। यहाँ पर कृत्रिमता किंचित् नहीं थी। अंग्रेजी साहित्य में मेथ्यू आर्नल्ड और वाल्टर पेटर जैसे दो समीक्षक—एक जीवन-पक्ष पर स्थिर होकर और दूसरा कला अथवा सौन्दर्य-पक्ष पर मुग्ध होकर—समान रीति से कवियो की प्रशसा कर सकते थे परन्तु बहुत दिन ऐसे नहीं रह सके। शीघ्र ही यूरोप में राष्ट्रीयता और प्रादेशिक भावनाओं का विस्तार हुआ और रूस में समाज-सम्बन्धी शक्तिशालिनी उत्क्रांति हुई। रूसी साहित्य को वहाँ के समाजवाद की सेवा में उपस्थित होना पड़ा, जिसके कारण उसकी स्वतन्त्रता बनी न रह सकी। साहित्य अधिकांश में राष्ट्र के सामाजिक और राजनीतिक संघटनों का प्रयोग-साधन बन गया। नवीन युग को नवीन वस्तु के रूप में उसको बाजार

अच्छा मिला और आज उसका सिक्का यूरोप ही नहीं भारत में भी वड़ाके से चल रहा है। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इस रूप में साहित्य परतन्त्र—सामयिक जीवन की वँधी हुई लीक में चलने को वाध्य किया गया है। साहित्य और जीवन का सम्वन्ध स्वभाव-सिद्ध सर्वथा मंगलमय है, पर क्या इस प्रकार का सम्बन्ध स्वभाव-सिद्ध कहा जा सकता है? जीवन की स्वच्छन्द धारा ही जहाँ वँधी हुई है वहाँ साहित्य तो शिकंजे में जकड़ा ही रहेगा। आज साहित्य और जीवन का सम्वन्ध जोड़ने के वहाने साहित्य को मिथ्या यथार्थ की जिस अंधेरी गली में ले चलने का उपक्रम किया जाता है, हम उसकी निन्दा करते हैं।

साहित्य और जीवन का सम्वन्व जोड़ने के सिलसिले में समीक्षकों ने साहित्यकार के व्यक्तिगत वाह्य जीवन से भी परिचित होने की परिपाटी निकाली। यातायात के सुलभ साधनों के रहते, सम्मिलन के सभी सुभीते थे। वस, साहित्यकार को भी पब्लिकमैन वना दिया गया। साहित्यालोचन की पुस्तकें निकलीं, उनमें यह आग्रह किया गया कि साहित्यकार की व्यक्तिगत जीवनी का परिचय प्राप्त किए विना उसके मस्तिष्क और कला का विकास समझ में नहीं आ सकता। ऐतिहासिक अनुसन्धानों के इस युग में यदि कवियों और लेखकों का अन्वेपण किया गया तो कुछ अनुचित नहीं। इस प्रणाली से वहुत-से लाभ भी हुए। मस्तिष्क और कला के विकास का पता चला। वहुत-से पाखंडी प्रकाश में आए। परन्तु जीवन इतना रहस्यमय और अज्ञेय है और परिस्थितियाँ इतनी वहुमुखी है कि इस सम्वन्ध में अधिक-से-अधिक सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है नहीं तो 'सैनिक' और 'साहित्यिक' तथा 'आनन्दभवन' और 'शान्तिनिकेतन' के वीच में ही अटल रहने का भय है। 'सैनिक' होने से ही कोई साहित्य-समीक्षक की सराहना का अधिकारी नहीं वन सकता, क्योंकि 'सैनिक' वनने का पुरस्कार उसे जनता के साधुवाद अथवा व्यवस्था सभा के सभासद् आदि के रूप में प्राप्त हो चुका है। साहित्यिक दृष्टि से 'सैनिकत्व' का स्वतः कोई महत्व

डॉ० गुलाबराय

(सन् १८८८ ई०–१९६३ ई०)

बाबू गुलाबराय के दो बहुचर्चित व्यक्तित्त्व हैं—एक तो आलोचक और दूसरा निबन्धकार का। इनके अतिरिक्त आपने 'दैनिकी (डायरी)', 'यात्रा-वृत्तांत', 'संस्मरण' आदि कई स्फुट रचनाएँ भी की हैं।

हिन्दी-साहित्य में बाबू गुलाबराय का सर्वाधिक महत्त्व आलोचक के रूप में है। आपकी आलोचना के प्रमुख दो रूप हैं—सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक। 'नवरस', 'साहित्य समीक्षा', 'काव्य के रूप' आदि आपके प्रमुख सैद्धान्तिक समीक्षा-ग्रन्थ हैं। 'हिन्दी काव्य विमर्श' तथा 'अध्ययन और आस्वाद' नामक ग्रन्थ आपकी व्यावहारिक आलोचना का परिचय देते हैं।

आलोचना के क्षेत्र में बाबू जी व्याख्यात्मक आलोचना की पद्धति को महत्त्व देते हैं। व्यावहारिक आलोचना में उनका एक प्रखर आलोचक का रूप निखर कर सामने आया है।

बाबू गुलाबराय एक उत्कृष्ट निबन्धकार भी हैं। उनके निबन्धों का क्षेत्र बहुत व्यापक है। विविध विषयों पर उन्होंने अनेकों निबन्ध लिखे हैं। 'ठलुआ क्लब', 'मेरे निबन्ध', 'अध्ययन और आस्वाद',' प्रबन्ध प्रभाकर' आदि उनके प्रसिद्ध निबन्ध-संग्रह हैं।

आपके निबन्धों को कई श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है; जिनमें आलोचनात्मक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक प्रमुख श्रेणियाँ हैं। बाबू जी के निबन्धों की प्रमुख विशेषता शैली की वैयक्तिकता है। आत्म-व्यंजना की यह झलक प्राय हर निबन्ध में मिलती है। 'साहित्य संदेश' के संपादक के रूप में बाबू जी ने समीक्षात्मक निबन्धों को दिशा प्रदान कर साहित्य

भी सम्पन्न होता भी है। भाषा विषयानुसार संयत, गम्भीर, तत्सम-प्रधान, सरल, सरस तथा प्रवाहमयी है। ये संस्कृत, अंग्रेजी, उर्दू, फारसी आदि शब्दों का प्रयोग भी करते हैं। हास्य तथा व्यंग्य का हल्का पुट उनके निबन्धों की प्रमुख विशेषता है। उनके निबन्धों की भाषा तथा शैली उनके व्यक्तित्व की परिचायक है।

इस प्रकार हिन्दी गद्य के उन्नायकों में बाबू गुलाबराय अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनकी सुदीर्घकालीन साहित्यिक सेवाओं से हिन्दी का साहित्य सम्पन्न हुआ है और उसे दिशा भी मिली है।

प्रभुजी ! मेरे औगुन चित न धरौ

⊙⊙

सूर और तुलसी की भाँति मैं यह तो नहीं कह सकता कि मेरे दोषों को स्वयं माता शारदा भी सिंधु की दवात में काले पहाड़ की स्याही घोल-कर पृथ्वी के कागज पर कल्प-वृक्ष की कलम से भी नहीं लिख सकती है। इतने भारी झूठ के मोल में दैन्य खरीदने की मुझमें सामर्थ्य नही है। वात यह है कि वे लोग तो कवि थे, उनकी अतिशयोक्तियाँ भी अलंकार वन जाती हैं—समरथ को नहिं दोष गुसाईं। महिम्नस्तोत्र के कर्त्ता वेचारे पुष्पदन्ता-चार्य ने जो वात भगवान के गुणों के लिए कही थी ('असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिंधु पात्रे, सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी। लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं, तदपि तव गुणानामीश ! पारं न याति।') वही वात सूर और तुलसी ने अपने अवगुणों के लिए लिख दी। कवि तो भगवान की स्पर्द्धा कर सकता है, क्योंकि भगवान को भी कवि कहा गया है—'कवि पुराणमनुशासितारम्।' लेकिन वेचारे गद्यलेखक की क्या ताव है जो अपने छोटे मुँह इतनी वड़ी वात कह डाले। हाँ फिर भी मुझमें अवगुण हैं और उनको मैं जानता हूँ—साँप के पैर साँप को ही दीखते है—उनको शायद परमेश्वर भी न जानते हों, क्योंकि जहाँ तक मैंने सुना है, वे भले पुरुप हैं, पुरुषोत्तम हैं और भले आदमी दूसरों के दोषों को स्वप्न में भी नही देखते और यदि देखते भी हैं तो सुमेरु-से दोषों को राई वरावर। वुराई उनकी कल्पना की पहुँच से वाहर है।

ख्याति की चाह को मिल्टन ने वड़े आदमियों की अंतिम कमजोरी कहा है, लेकिन शायद यह मेरी आदिम कमजोरी है, क्योंकि मैं छोटा आदमी हूँ। यश-लोलुपता के पीछे दुःख भी काफी उठाना पड़ता है। ख्याति की

चाह ही—जिसको मैं दूसरों की आँख में धूल झोंकने के लिए साहित्य-सृजन की प्रारम्भ-प्रेरणा मान लूँ—मुझे इस समय जाड़े की रात में गद्दे-लिहाफ का संन्यास करा रही है। रोज कुआँ खोदकर रोज पानी पीने की उक्ति सार्थक करते हुए मुझे भी कालेज के लड़कों को पढ़ाने के लिए स्वयं भी अध्ययन करना पड़ता है। उनकी सुध-बुध भूलकर, और यमदूत नहीं तो कम-से-कम कंजूस कर्जख्वाह की भाँति प्रूफों के लिए प्रातःकाल ही अपने अवाञ्छित दर्शन देने वाले प्रेस के भूत (कम्पोजीटर) की माँग की भी अवहेलना करते, देश के दंगों के शमन और शरणार्थियों के पाकिस्तान के निष्कासन की भाँति इस लेख को मैं चोटी की प्राथमिकता(top priority) दे रहा हूँ।

आचार्य मम्मट ने काव्य के उद्देश्यो में यश को सर्वप्रथम (यह शब्द मुझे सर्वप्रथम देव-पुरस्कार-विजेता का स्मरण दिलाता है) स्थान दिया है। काव्य यश से पहले और अर्थकृते पीछे (बस वह पीछे ही रखने की बात है भूलने की नही) कहा था किन्तु आजकल जमाना पलटने से उसका क्रम भी पलट गया है। त्रेता-युग में लड़ाइयाँ भी यश के लिए ही लड़ी जाती थीं। रघुवंश में कवि-कुल-गुरु कालिदास ने कहा है 'यशसे विजगीषुणाम्' किन्तु आजकल विजय भी अर्थकृते ही की जाती है। फिर भी मुझ जैसा प्राचीन-पंथी, 'चील के घोंसले में मांस' की भाँति अर्थाभाव के होते हुए भी, यश-लोलुपता से पल्ला नहीं छुड़ा सका है। रेल की यात्राओं की यम-यातनाओ के कारण (कभी-कभी वे बहुत लम्बी यात्रा करा देती हैं) दूर के स्थानों की सभाओ का सभापतित्व करना छोड़ दिया है और उसके लिए मुझे इतना ही श्रेय मिल सकता है जितना कि वृद्धा वेश्या को सती होने का किन्तु निकट के मथुरा, अलीगढ़ आदि स्थानों को कुछ अधिक आग्रह करने पर नही छोड़ता। स्थानीय सभाओं में, यदि वे निशाचरी वृत्तिवालों की न हों, तो गीता का काला अक्षर भैंस बराबर जानते हुए भी गीता तक पर व्याख्यान देने और अपने अल्पज्ञ श्रोताओं का साधुवाद लेने

पहुँच जाता हूँ । काले अक्षर मेरे लिए भैंस बराबर ही हैं । वे मेरे लिए चन्द्रज्योत्स्ना-सा धवल यश और साथ ही कम-से-कम इस संसार में निरुपम, और यदि स्वर्ग तक पहुँच होती तो अमृतोपम दुग्ध-धारा का सृजन कर देते हैं। कभी-कभी भैंस की भाँति वे ठल्ल भी हो जाते हैं। दिमाग का दिवालिया-पन मैं सहज में स्वीकार नहीं करता और लोग करने भी नहीं देते। 'श्रवण समीप' क्या सारे सर के बाल सफेद हो जाने पर भी, 'अंग गलित' तो नहीं, 'पलितं मुण्डं' अवश्य और करीब-करीब ५० प्रतिशत 'दशनविहीनं जातं तुण्डम्' का अभी 'करवृतकंपितशोभितदण्डम्' की बात नहीं आयी, दण्ड देने से मैं सदा बचता हूँ, रामचन्द्र जी के राज्य में तो दण्ड जनित कर ही था, मैं यदि राजा होता तो उसका खरहे के सींगों की भाँति अत्यंताभाव करा देता किन्तु खुदा गंजे को नाखून नहीं देता। वार्द्धक्य का, अच्छे सेकिंड डिवीजन का प्रमाण-पत्र प्राप्त कर लेने पर भी, 'भज गोविंदं भज गोविंद भज गोविंदं भज मूढ़मते' की बात सोचकर लेखनी को विश्राम नहीं देता।

यश-लोलुप होते हुए भी नेतागीरी से कुछ दूर रहा हूँ । लेखन-कार्य में तो चारपाई पर पड़े-पड़े भी यश-लाभ की जुगति लग जाती है; नेतागीरी में खैर, पैदल तो नही मोटर-ताँगों में घूमना पड़ता है (रक्त चाप के कारण तथा धनाभाव के कारण वायु-यान में बैठकर देवताओं की स्पर्द्धा नहीं करना चाहता, मनुष्य बना रहना मेरे लिए काफी है), गला फाड़कर कभी-कभी बिना लाउड-स्पीकर के भी व्याख्यान देना होता है, जाड़ों में भी शुद्ध खद्दर का बगुले के पंख से सफेद (बगुले की सफेदी के गुण की ही उपमा दी गयी है) कुरते में ही संतोष करना पड़ता है और घर पर मक्खन-टोस्ट खाते हुए भी बाहर पार्टियों में चना-गुड़ खाने का त्याग दिखाना होता है । खैर, अब जेल जाने की बात नहीं रही ।

उदारता तो कभी-कभी छाती पर पत्थर रखकर भी कर देता हूँ किन्तु बिना अहसान जताये नहीं रहता। जहाँ तक लक्षणा-व्यञ्जना के साहित्यिक साधनों की पहुँच है उन सबका प्रयोग कर लेता हूँ, फिर भी यदि कोई संकेत-

निकला । सरकार से मोर्चा लेने की बात मैंने कभी सोची भी नहीं, क्योंकि जब जेल जाने के लिए प्रभु ईसा-मसीह की भाँति ईश्वर से प्रार्थना करना पड़े कि 'या खुदा आफत का प्याला मुझसे टाल' तो फिर उस राह जाने से ही क्या काम ? और जिस राह नहीं जाता उसके पेड़ भी नहीं गिनता । पुलिस को धोखा देने मे मजा अवश्य आता है; बुद्धि के चमत्कार पर गर्व करने को भी मिलता है, किन्तु वह कम से कम महात्मा गांधी के अर्थ मे बहादुरी नही कही जाती है । मुझमे न इतना साहस है और न इतना शारीरिक बल कि रात-बिरात खाई-खंदकों में घूमता फिरूँ और फिर जेल में घर का-सा आराम कहाँ ? (वैरागी बाबा तुलसीदासजी को राम-नाम के उपमान के लिए घर से बढ़कर उपमान नहीं मिला 'सुखद अपनो सो घर है') । मैं कांग्रेस जनों की बुराई करते हुए भी, गांधी जी की भाँति चार आने का मेम्बर भी न होता हुआ भी, और लोगो के आग्रह करने पर भी गांधी टोपी को पूर्णतया न अपनाने पर भी, और जेल जाने का प्रमाण-पत्र न प्राप्त करते हुए भी, कांग्रेस के आदर्शों का परम भक्त हूँ । इस बात को शायद पिछली सरकार के सामने भी स्वीकार करने को तैयार था । कभी-कभी अपने मित्रों से कांग्रेस के पक्ष में लड़ाई भी लड़नी पड़ती है किन्तु फिर भी निर्भयता का गुण नही अपना सका हूँ । जीवधारियों की शेष कमजोरियाँ भी मुझमे उचित सीमा के भीतर वर्तमान है। अन्तिम को मेरी अवगुणों की सूची में अंतिम ही स्थान मिला है। उसको मैं मानसिक रूप देने का ही गुनहगार हूँ क्योंकि मनोभाव को उचित स्थान मन में ही है । 'नेत्र-सुख केन वार्यते' के सिद्धान्त को मैं मानता हूँ । किन्तु गंजे के नाखूनों की भाँति नेत्र की ज्योति भी ईश्वर की दया से मंद ही है। नेत्रो के पाप से भी यथासम्भव बचा ही रहता हूँ किन्तु मानसिक दृष्टि मन्द नही हुई है । उस दिन को मै दूर ही रखना चाहता हूं जब मन-मोदको से भी वञ्चित हो जाऊँ ।

आहार को पण्डितों ने पहिला स्थान दिया है किन्तु मैं उसे भय के

पश्चात् दूसरा स्थान देता हूँ । आहार जीवन की आवश्यकता ही नहीं वरन् जीवन का आनन्द भी है । डाक्टरों की कृपा से कहूँ, या रोगों के प्रकोप से कहूँ, आहार का आनन्द वहुत सीमित हो गया है फिर भी नित्य ही पाचन शक्ति के अनुकूल थोड़ा-वहुत भाग मिल जाता है । काव्य से अधिक 'सद्यः परनिवृत्तिः' भोजनों में मिलती है । उपवास में विश्वास रखते हुए भी मैं एकादशी व्रत तव तक नहीं रखता जव तक छप्पन प्रकार के व्यञ्जन नहीं तो कम-से-कम एकादश प्रकार के भोज्य-पदार्थों के मिलने की संभावना न हो ।

दोपहर का भोजन तो भर पेट कर लेता हूँ, उसमें तो मैं अपने नवयुवक बन्धुओं से वाजी ले जाता हूँ; सायंकाल को मैं आधे पेट ही सोता हूँ, गरीव भारत की आधे पेट सोनेवाली जनता की सहानुभूति में नहीं, और न अर्थाभाव से, किन्तु आटे में वर्तमान शक्कर की मात्रा के पचाने वाले पैंक्रियस (pancreas) के रस के अभाव के कारण । उस अभाव की पूर्ति मैं इन्स्यूलिन के इन्जेक्शनों से कर लेता हूँ । अन्धकार की भाँति मेरा शरीर भी सूची-भेद्य है और जैसा मैंने अन्यत्र लिखा है, मेरे शरीर में जितनी सुइयाँ लग चुकी हैं उतने वाण भीष्म पितामह की शर-शैया में भी न होंगे ।

मिष्ठान्न का मैं यथासंभव संयास करता हूँ किन्तु दूध के साथ शर्करा का वियोग कराना मैं पाप समझता हूँ । शरीर और शक्कर के जोड़े में एक का विच्छेद करने से मुझे क्रौंच-मिथुन की वात याद आ जाती है और भय लगता है । कोई वाल्मीकि जैसे करुणार्द्र हृदय ऋषि मुझे भी शाप न दे दें कि 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः ।' लेकिन शक्कर इतनी ही डालता हूँ जितना दाल में नमक डाला जाता है या किसी आजकल के सभ्य-समाज में विना आत्म-सम्मान खोये कोई झूठ वोल सकता है । मिठाई मैं मोल लेकर वहुत कम खाता हूँ क्योंकि मैं आफत मोल नहीं लेता । अच्छे भोजन का लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता । मैं किसी के निमन्त्रण का तिरस्कार नहीं करता किन्तु मर्यादा का ध्यान अवश्य रखता हूँ । फिर

'श्रृंगार शतक' के भी श्लोक 'विश्रम्य-विश्रम्य द्रुमागामं छायासु तन्वी विचचार काचित्' या कालिदास के मेघदूत या शकुन्तला के 'तन्वी श्यामा शिखिर-दशना' वाला श्लोक पढ़ जाता हूँ। इसके लिए मैं स्वर्ग से विमान आने की प्रतीक्षा नहीं करता। मेरा धर्म स्वांतः सुखाय है।

और कुछ न लिख सकने के कारण मानसिक दरिद्रता की आत्म-ग्लानि निवारण करने के लिए मैंने ये आत्मस्वीकृतियां लिख दी हैं नहीं तो अपना मरम न खोलता। बौद्धों में तथा रोमन कैथोलिकों में पापों की आत्म-स्वीकृति विधिवत् की जाती है और उसकी गणना पुण्य कार्यों में होती है। मुझे मालूम नहीं कि इस पुण्य का क्या फल मिलेगा। इतना ही बहुत है कि इस आत्म-स्वीकृति में जितना आत्म विज्ञापन है, उसे जनता उदारतापूर्वक क्षमा कर दे।

●

माखनलाल चतुर्वेदी

(संवत् १९५४--२०२५ वि०)

पं० माखनलाल चतुर्वेदी का गद्य-साहित्य उनकी जीवन-चेतना का जीवन्त प्रतीक है। उनकी समस्त रचनाएँ; चाहे वे गद्य-गीत हों, निवन्ध हों; कहानियाँ हों, रेखाचित्र या संस्मरण हों, राष्ट्र-प्रेम की भावना से युक्त है।

चतुर्वेदी जी के गद्य-गीतों ने युग-चेतना का अविस्मरणीय स्वर मुखरित किया। इन गद्य-गीतों में यद्यपि भावुक मन की सरसता है पर साथ में राष्ट्र का तरुण ओज है, संघर्ष की तड़प है, स्वप्नों को साकार करने की दृढ़ता है।

चतुर्वेदी जी निवन्धकार के रूप में भी उतने ही सशक्त हैं जितने गद्य-गीतकार के रूप में। आपके निवन्ध भावात्मक होते हैं। इनमें वैयक्तिकता की पूर्ण छाप होती है। आपके निवन्ध-संग्रह 'साहित्य देवता' ने आपको उच्चकोटि के भावात्मक निवन्ध-लेखकों की श्रेणी में विठा दिया। 'अमीर इरादे गरीव इरादे' उनका दूसरा निवन्ध-संग्रह है। इसमें संग्रहीत निवन्ध उनके प्रगतिशील विचारों के परिचायक हैं।

कहानीकार के रूप में भी चतुर्वेदी जी की कला निखर उठी है। उन्होंने अधिकतर लघु, कलात्मक कहानियाँ लिखी हैं। उनकी कहानियाँ खण्डित जन-जीवन की प्रतिमाएँ हैं। जिनमें कहानीकार की संवेदना, सूझ-बूझ, अनुभूति, व्यंग्य आदि के रंगों का मनोरम आकर्षण है। इन छोटी कलात्मक कहानियों के अतिरिक्त उन्होंने अनेक हास्य-प्रधान कहानियों का भी सृजन किया है। 'कच्चा रास्ता', 'पगडण्डी', 'कला का अनुवाद' आदि कहानियाँ कलात्मक कहानियों के तथा 'दाँत का दर्द', 'नाक से खा गया', 'दो गप्पी' आदि कहानियाँ हास्य कहानियों के उदाहरण के रूप में दी जा सकती हैं।

भाषा की मनोहर स्तोत्रमाला, हृदय में देश की दशों दिशाओं में गूँज मचाने वाली वीणा तथा दुर्बल को सबलता का स्वरूप बना डालने वाली पुस्तक लिए हुए तुम, और हाथों में अपनी श्यामता से श्याम के मन को भी मोह लेनेवाली लेखनी—वह लेखनी, जिसके चल पड़ने पर मेरे हाथों में जीवन-ज्योति जगमगाने लगे, बिछुड़े हुए मिलने को टूट पड़ें, सोते हुए जागृति का संदेश पहुँचाने लगें और पिछड़े हुए अग्रगामियों को पथ के पीछे छोड़ बैठने की ठानते देखें—ऐसे अक्षरों के उपासक, शब्दों के साधु, पदों के पूजक, व्यंजनों के विजयानन्द विहारी, सन्धियों के निर्माता और 'पूतना मारण लब्धकीर्ति' के अंग में नित नव आभूषणों को समर्पित करने वाले; किन्तु प्राणों को मतवाले हो कलम के घाट उतारनेवाले ही को अधिकार है कि वह आगे बढ़े और तुम्हारी अमृत-सन्तानों की आज्ञा को शिर पर धरकर तुम्हारा पवित्र संदेश सुनाने, तुम्हारा दिव्य दर्शन कराने और तुम्हारे लिए की हुई आजन्म तपस्या का प्रत्यक्ष परिचय देने के लिए आगे बढ़ें, और आशीर्वाद के जलकणों से संचित उस वेदी-रूप गोदी में पके हुए परिमल-पूरित, प्रफुल्लित पंकज के समान शोभित हो, वह महाभाग और उस तुम्हारे भावों के मतवाले के मस्त सौरभ से महक उठे माता, वह तुम्हारी वेदी।

× × ×

पुकार हुई और तुम्हारे आराधकों ने तुम्हारे एक सेवक को ढूँढ़ा। उसने गिरि-गह्वरों में प्रवेश कर तुम्हारी अमृत सन्तानों का मित्र बनकर तुम्हारा कीर्तिगान किया था, उसने हिंसकों से पूरित बीहड़ वन में तुम्हारे वाहन के नाम की गगन-भेदिनी गर्जना सुनाने में साथ दिया था, उसने तुम्हे पहनाने के लिए माला गूँथने में अपने आप को आगे बढ़ाया था और उसने हिंसकों के हृदयों को न हिलाकर, हिमालय के पुत्र की एक कन्दरा में अपना जीवन बिता, समर्थ के संदेशों को दुहराया था, और उसने कर्मयोग के सन्देश-वाहक का सच्चा सेवक बनकर दिखाया था। हम दौड़ पड़े, और तुम्हारी वेदी, उसकी महत्ता और पूज्यता की रक्षा के लिए उसके चरणों में बैठकर

बड़ी आवभगत से आराधना की। उस संसार को परिवार माननेवाले, उसे "यो यथा माम् प्रपद्यन्ते" के व्रती, उस वचनों के निर्भीक, दर्शन के भिखारी और कर्मी के तपस्वी की छाया में बैठकर हमने स्तोत्रों का पाठ किया, षड्यन्त्रों के सिवा, शेष यन्त्रों की रचना दिखलाई, मारण और उच्चाटन के सिवा शेष मन्त्रों का प्रयोग किया और उस स्वतन्त्र दीखनेवाले के तन्त्र में आ जाने के लिए प्रत्यक्ष आत्मसमर्पण का वचन दिया; किन्तु उसने, उस स्वतन्त्रता को चरम सीमा की सेविका बनाकर हतभागिनी बनाने वाले देव ने हमारी हजारों आकांक्षाओं और तुम्हारी आज्ञा और आदेश के अनेक अनुसंधानों को अपने पदों से रौंद डाला। गौरव उसकी दृष्टि में रौरव था। उसने वही सिद्ध किया। उसने गौरव के सारे कलरव को कोलाहल कहकर ठुकरा दिया। और वेदी पर चरण रखकर चढ़ने के बजाय, उस पर अपना मस्तक रखने की इच्छा प्रकट की।

तब से मस्तक उठाने, मस्तक रखने और मस्तक और हृदय की बलि चढ़ाने वाले लोग अपने आत्मदान से तुम्हारी उस वेदी को हरा-भरा किये हुए हैं।

और वेदी के ये उपासक अमर हैं, अविजित हैं, सदैव आराधनामय हैं; इन्हीं को पाकर निहाल है, तुम्हारी वेदी।

●

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

(संवत् १९६१–२०२३ वि०)

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल भारतीय साहित्य और संस्कृति के गम्भीर अध्येताओं में रहे हैं। प्राचीन साहित्य तथा प्राचीन मुद्राओं के आधार पर उन्होंने प्राचीन इतिहास को सामने रखने का सराहनीय कार्य किया है। 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' तथा 'हर्ष चरित—एक अध्ययन' आपके इस विषय के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। मानवता तथा भारतीय संस्कृति की दृष्टि से आपने 'महाभारत' का विशद् अध्ययन किया है। इनके ग्रन्थों ने हिन्दी को विशिष्ट ज्ञानराशि प्रदान की है।

डॉ० अग्रवाल की भाषा कुछ संस्कृतनिष्ठ तथा शैली विवेचनात्मक होती है। विषय का प्रतिपादन ऐतिहासिक, पौराणिक एवं प्राचीन साहित्यिक कृतियों के साक्ष्य पर आपने किया है।

'मानव की व्याख्या' निबन्ध में उन्होंने प्राचीन तथा आधुनिक विस्तृत दृष्टिकोण के समन्वय से मनुष्य की सार्वभौम संस्कृति पर प्रकाश डाला है। आपकी रचनाएँ हैं—

कला और संस्कृति, कल्पवृक्ष, भारतसावित्री, मातृभूमि, उरुज्योति, हर्षचरित : एक अध्ययन, कादम्बरी : एक अध्ययन, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, भारत की मौलिक एकता, मलिकमोहम्मद जायसी : पद्मावत, पद्मावत की व्याख्या।

आपने शृंगारहाट का संपादन भी किया है।

भारतीय कला और संस्कृति के अन्यतम अध्येता के रूप में डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का हिन्दी-साहित्य में विशिष्ट स्थान है। हिन्दी साहित्य की आपकी बहुमुखी सेवाएँ चिरस्मरणीय रहेंगी।

मानव की व्याख्या

⊙⊙

अर्वाचीन विचारधारा मानव केन्द्रित है, अर्थात् जीवन के प्रत्येक अनुष्ठान का मध्यवर्त्ती विन्दु मनुष्य है। वही प्रयोग आज महत्त्वपूर्ण है जिसका इष्ट देवता मनुष्य है। जिस कार्य का फल साक्षात् ऐहलौकिक मानव-जीवन के लिए न हो, जो मनुष्य की अपेक्षा स्वर्ग के देवताओं को श्रेष्ठ समझता हो, वह आधुनिक जीवन पद्धति के अनुकूल नहीं है। विज्ञान, कला, साहित्य, राजनीति सबकी उपयोगिता को एक मात्र कसौटी का प्रत्यक्ष लाभ और प्रत्यक्ष जीवन है। प्रत्येक क्षेत्र में विचारों की हलचल मनुष्य के इसी रूप को पकड़ना चाहती है। इस दृष्टिकोण से एक ओर मानव की प्रतिष्ठा बढ़ी है और दूसरी ओर स्वर्ग की ओर उड़नेवाले मनुष्य के विचारों ने पृथ्वी की कुशल पूछने का नया पाठ पढ़ा है। यह सच है कि अभी अनेक क्षेत्रों में यह नया पाठ पूरी तरह गले के नीचे नहीं उतरा है। और स्वार्थों के पुराने गढ़ इसके विरोधी हैं। पर विश्व के विचारों का ध्रुव-बिन्दु आज मानव के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। विश्व-क्षितिज का प्रत्येक नया ग्रह मानवरूपी केन्द्र के चारों ओर ही मँडराता है। विश्व मानव प्राची के कोने में अपने विखरे तेज को समेटता हुआ अधिकाधिक सामने आ रहा है। राजनीति के सतरंगेवादों से कहीं ऊपर विश्व मानव के ऐक्य, भ्रातृत्व या मानववाद का जन्म दुर्द्धर्ष गति से हो रहा है। जो आज नहीं हुआ है वह कल होकर रहेगा।

जो मानव इतना महनीय है, जो विश्व की परिधि का केन्द्र विन्दु है वह यथार्थ में है क्या? क्या वह मिट्टी, पानी, आग, हवा का एक पुतला भर है? क्या वह एक नगण्य बुलबुला है जिसकी उपमा के करोड़ों अरबों

बुलबुले प्रत्येक शताब्दी में जन्म लेते और विलीन हो जाते हैं? यदि ऐसा ही है तो नाखूनी पंजोंवाले कालचक्र को अपनी गति से घूमने दो वह इस बापुरे मानव को कहां ठौर दे और क्यों? छीलर के जल में चोच मारती हुई हंसिनी की भांति ऐसे मानव की वराकी बुद्धि के लिए हमारे मन में क्या आस्था हो। वह तो क्षुद्र है, असमर्थ है, स्वार्थ से अभिभूत है, विश्व के अनन्त दुर्द्धर्ष प्रवाह में उसकी कोई महिमा या प्रतिष्ठा नहीं। अतएव मानव की सच्ची व्याख्या का आज नया मूल्य है। विश्व के मनोक्षेत्र में मानव की प्रतिष्ठा की दार्शनिक पृष्ठभूमि मानव की सच्ची व्याख्या ही हो सकती है।

मनुष्य केवल मात्र स्थूल शरीर नही है। पांच या चार तत्त्वों के अकस्मात् क्रमवद्ध हो जाने से मनुष्य नही बन गया। रासायनिक प्रतिक्रिया से ९२ तत्त्वों के किसी प्रकार रचपचकर एक हो जाने से मानव का पुतला सामने आ गया हो, केवल यही अन्तिम सत्य नहीं है। अन्नमय पुरुष अवश्य ध्रुव सत्य है। उसे ही आजकल की परिभाषा में वायोलाजिकल मैन कहेगे। अशनाया इसी मानव की विशेषता है। पुत्रैषणा या काम इसी मानव का क्षेत्र है। प्रकृति के विराट संविधान मे यह मानव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जो प्रथम तो अन्न द्वारा देह का पोषण करता है और फिर प्रजनन द्वारा सृष्टिक्रम जारी रखता है। आहार और मैथुन जिसकी विशेषता है वह मानव वास्तविक है। स्थूल है, उसे हम मानव के भीतर का पशुभाग कह सकते हैं।

इसी के साथ मानव में एक दैवी अंश है। वह इसका मनोमय और विज्ञानमय भाग है। जो स्थूल शरीर की अपेक्षा कम सत्य और वास्तविक नही है। भारतीय परिभाषा के अनुसार मानव में मर्त्य और अमृत का संयोग है। शरीर मर्त्य और मन अमृत है। मर्त्य भाग उसे पार्थिव जगत् के साथ बाँधे हुए है। अन्न और वायु इसी मर्त्य भाग की प्रतिष्ठा है। वे दोनों मानव की लौकिक स्थिति के लिए अनिवार्य है। इस मानव की

परिपूर्ण साधना के बिना पृथ्वी का ऋण नहीं उतरता । अतृप्त वासनाएँ पुनः-पुनः मानव के भीतर के पशु भाग को अपने वश में कर लेती हैं ।

मनुष्य के भीतर ही उसका दैवी अंश भी है। वस्तुतः मन ही एक देव है, जो सब मानवों में प्रतिष्ठित है। 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः' इस गूढ़ देव को प्रकट करना और जीवन के हर कार्य में इसे अधिकाधिक प्रकट करना, यह मानव का दैवी सन्देश या कार्य है। इसका पूरा होना भी उतना ही आवश्यक है, जितना अन्न और काम के प्रति संतुलित अवस्था प्राप्त करना आवश्यक है। मानव के समक्ष दोनों ही समस्याएँ एक जैसी अवश्य है। एक का हल करना जितना आवश्यक है, दूसरे का हल भी उतना ही अनिवार्य है। दोनों के समन्वय के बिना संतुलित मानव का आविर्भाव नहीं हो सकता। जब तक मर्त्य और अमृत भागों का एक-सा विकास न किया जायगा मानव अतृप्त और अपूर्ण ही रहेगा। उसका जीवन और उसके सब कार्य अधूरे रहेंगे । जो स्थूल मानव है वह प्रकृति का अनुचर है। जो आध्यात्मिक प्राणी है वही प्रकृति का स्वामी है। जो अशनाया ग्रस्त है वह प्रकृति के साथ द्वन्द्व में फँसा है। उसके चारों ओर सीमाभाव है । वासना, अधिकार-लिप्सा, ईर्ष्या और हिंसा, ये उस मानव के जीवन में उत्पन्न हो गए है जो उसके अधिकांश दुःखों के कारण हैं । आध्यात्मिक मानव के विकास से ही मानव इन कमजोरियों से ऊपर उठ सकेगा । अध्यात्म की अभिव्यक्ति के साथ-साथ मानव के विकास का नया धरातल शुरू होता है। अशनाया-प्रधान मानव के प्रायः अनेक नियम यहाँ दूसरे प्रकार के हो जाते हैं। जो मर्त्य अश भोग चाहता है वही अध्यात्म या अमृत संस्कृति में उन भोगों को छोड़ना चाहता है उनके ऊपर मानसिक विजय प्राप्त करके अपने आपको उनके ऊपर के धरातल पर ले जाता है। प्राकृत अवस्था में जो मानव का पशु भाग है, वह अध्यात्म-संस्कृति में त्याग के द्वारा दैवी गुणों को ग्रहण करता है। पशु को स्वरूप परिवर्तन के द्वारा देव बनाना, यही अध्यात्म-प्रगति है ।

इसी का पुराना नाम यज्ञ है। यज्ञ की भूमिका मनुष्य का अपना शरीर और मन है। यज्ञीय भावों को सम्पूर्णतया अपनाए बिना हम उन मानसिक वासनाओं से बच ही नहीं सकते, जो हमें अधिकार-लिप्सा, स्वार्थ-साधना, या हिंसा की ओर ले जाती है। मानव का स्थूल हिंसा प्रधान जीवन क्षेत्र धर्म है। इससे ऊपर प्रेम और त्याग का जीवन ब्राह्म संस्कृति है। वह दैवी अंग है। वह अमृत भाग है। वही श्रेष्ठ कर्म है जिसे यज्ञ भी कहा है। विश्वात्मा के लिए यज्ञीयभाव या आत्मसमर्पण के बिना विश्वमानव का जन्म असम्भव है।

आज सर्वत्र विश्वमानव की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा है। प्रत्येक जाति और देश का लक्ष्य विश्व-बन्धुत्व की प्राप्ति है। उसका सीधा-साधा अर्थ यही है कि एक मानव में जो अविकार और स्वार्थ की सत्ता है, वह दूर होनी चाहिए। विश्वमानव के साथ उसके मनोभावों का स्वच्छन्द मेल होना चाहिए। जो हालत एक मानव की है वही एक समूह सम्प्रदाय जाति या देश की हो सकती है। उसकी संकीर्णता का निराकरण उसके स्वास्थ्य के लिए उतना ही आवश्यक है जितना एक व्यक्ति का विश्व के साथ संतुलित होने के लिए अपने सीमाभाव को छोड़ना है। क्या राष्ट्र या मानव के पृथक् समुदाय भी इस प्रकार के प्रयोगों में सामूहिक रुचि ले सकेंगे? आज इस प्रश्न पर धुआँधार-सा छाया हुआ है। परन्तु जिसकी दृष्टि स्वच्छ है उन्हें यह स्पष्ट दिखलाई पड़ता है कि मानव के अमृत अंश का, उसकी अध्यात्म-संस्कृति का विकास होकर ही रहेगा। उसी ओर संघर्ष, द्वन्द्व और हिंसा मार्ग से भी मानव को अन्ततोगत्वा जाना ही पड़ेगा। इसका विरोध करके कोई भी कुशलपूर्वक नहीं रह सकता। किसी एक की विजय अध्यात्म-मानव की हत्या करके ही सम्भव है। सब की विजय के लिए अध्यात्म-संस्कृति, त्याग और यज्ञीय भावों के धरातल पर सबको आना ही पड़ेगा। सबकी विजय का मार्ग वही होगा, जिसमें हरएक की विजय दिखाई पड़े, किसी एक की ही नहीं। विश्वात्मा के मन को उन्मुक्त

करने के लिए सब की मुक्ति आवश्यक है। स्थूल रूप में जब एक राष्ट्र या समूह शक्तिशाली बनता है तब तक औरों की मानसी हत्या करके ही उनके ऊपर अपने अधिकार की स्थापना कर पाता है। किन्तु अध्यात्म-संस्कृति का मार्ग भिन्न है। उसमें हर एक को ऊपर उठाकर अपनी उन्नति की जाती है। दूसरों के प्रति उन्मुक्त उदारता, सेवा, प्रेम और आत्मीयता के द्वारा ही हम विश्वात्मा या विश्वमानव के साथ एक हो पाते हैं। आज विज्ञान के प्रांगण में विश्वमानव का शीघ्रता से जन्म हो रहा है। राजनीति के क्षेत्र में अभी उसकी गति पकड़ी नहीं जा सकती। यहीं बड़ी अड़चन दिखाई देती है। किन्तु विज्ञान के पीछे मानव के उच्च विकास का जो दर्शन है वह पूर्ण होकर रहेगा।

आज शक्तिमत्ता के साथ त्याग के मंत्र की आवश्यकता है। गृहस्थाश्रम के संचय के साथ वानप्रस्थ और संन्यास के अपरिग्रह धर्म की भी आवश्यकता है। आत्मरक्षा के साधनों के विकास के साथ दूसरों को अभय की स्थिति में लाने की भी उतनी ही आवश्यकता है। क्षात्रधर्म के साथ ब्रह्मधर्म को भी विकसित करना होगा। शरीर की भोग प्रधान आवश्यकताओं को साधने के साथ-साथ त्याग-प्रधान अध्यात्म-संस्कृति का भी विकास करना होगा। इसी मे मानव का सच्चा हित है। इसी से उसकी महिमा की पूर्ण अभिव्यक्ति सम्भव है।

डॉ० नगेन्द्र

(जन्म सन् १९१५ ई०)

डॉ० नगेन्द्र हिन्दी-साहित्य के लब्ध-प्रतिष्ठ आलोचक, निबन्धकार तथा विचारक है। आप हिन्दी-जगत् में रसवादी आलोचक के रूप में प्रख्यात हैं। रसवादी आचार्य के रूप में भारतीय रस-सिद्धान्त की पूर्णता के प्रति आपका अखण्ड विश्वास है। ऐसा ही विश्वास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का था। वस्तुतः उनकी आलोचनात्मक पद्धति आचार्य शुक्ल की व्याख्यात्मक पद्धति का ही विकसित रूप है, ऐसा कहा जा सकता है।

उच्चकोटि के आलोचक के अतिरिक्त डॉ० नगेन्द्र एक कुशल निबन्धकार भी हैं। यों तो प्रायः उनके निबन्ध भी आलोचनात्मक ही है, पर अपनी शैलीगत विशिष्टता के कारण उनका पृथक् महत्त्व भी है। उनके निबन्ध विचारात्मक हैं। उनके निबन्धों में शैली की दृष्टि से अनेकरूपता मिलती है। उनको निबन्धकार के रूप में प्रतिष्ठित करने में इन प्रमुख पुस्तकों ने बहुत सहायता दी है—१. रस सिद्धांत, २. काव्यचिंतन, ३. विचार और अनुभूति, ४. विचार और विवेचन आदि। इनके निबन्धों को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी, व्याख्यात्मक समीक्षा सम्बन्धी, संस्मरणात्मक तथा भावात्मक।

निबन्धों के अतिरिक्त डॉ० नगेन्द्र ने संस्मरण तथा यात्रा-साहित्य भी लिखा है। संस्मरण का श्रेष्ठ उदाहरण 'चेतना के बिम्ब' है।

डॉ० नगेन्द्र की भाषा एक शास्त्रनिष्ठ आलोचक की भाषा है। पर उनकी भाषा में विषयानुसार परिवर्तन भी होता रहता है।

डॉ० नगेन्द्र की भाषा में संस्कृत के साथ अंग्रेजी के शब्दों का भी निःसंकोच प्रयोग हुआ है। उनकी भाषा में यदि एक ओर संयम, गहनता,

संस्कृतनिष्ठता मिलेगी तो दूसरी ओर सहजता, रागात्मकता तथा प्रवाह-मयता भी। वस्तुतः उनकी भाषा उनके व्यक्तित्व की परिचायिका है।

डॉ० नगेन्द्र हिन्दी के मूर्द्धन्य समालोचक हैं। निवन्ध के क्षेत्र में विशेषकर समीक्षात्मक निवन्धकार के रूप में आपकी विशेष प्रतिष्ठा है किन्तु उनका समालोचक रूप उनके निवन्धकार रूप को दवाये रखता है। उनके निबन्धों में सहज आत्मीयता की अपेक्षा अध्येता का रूप ही सवल है।

साहित्य में आत्माभिव्यक्ति

⊙⊙

कुछ वर्ष हुए एक प्रगतिवादी मित्र ने मुझ पर अनेक आरोपों के साथ एक आरोप यह भी लगाया था कि मैं साहित्य में सामाजिक गुणों का विरोध करता हुआ अहंवाद का पोषण करता हूँ। . .आज उसी को लेकर जब मैं आत्म निरीक्षण करने बैठता हूँ तो एक प्रश्न मेरे मन में अनिवार्यतः उठता है—साहित्य का मूल धर्म क्या है? और अनेक पण्डित मित्रों की विरोधी युक्तियों के बावजूद भी इसका उत्तर अब भी मेरे पास एक ही है: 'आत्माभिव्यक्ति'। जैसा कि मैं अनेक प्रसंगों में अनेक प्रकार से व्यक्त करता आया हूँ, आत्माभिव्यक्ति ही वह मूल तत्त्व है जिसके कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार और उसकी कृति साहित्य बन पाती है। विचार करने के बाद संसार में केवल दो तत्त्वों का ही अस्तित्व अंत में मानना पड़ जाता है—आत्म और अनात्म। इस मान्यता का विरोध दो दिशाओं से हो सकता है—एक अद्वैतवाद की ओर से और दूसरा भौतिकवाद (द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद) की ओर से। अद्वैतवाद प्रकृति अथवा अनात्म को भ्रम कहता है और भौतिकवाद आत्म को प्रकृति की ही उद्भूति मानता हुआ उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नही करता। परन्तु वास्तव मे यह दोनों ही दर्शन की चरम स्थितियाँ है—और व्यावहारिक तल पर दोनों ही उपर्युक्त द्वैत को स्वीकार लेते हैं। अद्वैतवाद साधना और व्यवहार के लिए जीवन और जगत् की महत्ता को अनिवार्यतः स्वीकार कर लेता है। और उधर भौतिकवाद भी, आत्मा को चाहे वह कितना ही भौतिक और अपृथक् क्यो न माने, व्यावहारिक जीवन में व्यक्ति और वातावरण के पार्थक्य को तो मानता ही है। साहित्य का संबंध दार्शनिक अतिवादों से न होकर जीवन से है, अतएव उसके लिए

यह द्वैत-स्वीकृति अनिवार्य है चाहे आप इसे 'जीव और प्रकृति' कह लीजिए या 'व्यक्ति और वातावरण'। परन्तु ये केवल भिन्न-भिन्न नाम हैं, मैं और मेरे अतिरिक्त और जो कुछ है उसको व्यक्त करना ही इनकी सार्थकता है। 'आत्म और अनात्म' चूंकि इनमें सबसे कम पारिभाषिक है इसलिए हमने इन्हें ही जीव और जगत्—आध्यात्मिक मनोविज्ञान में अहं और इत्थं, विज्ञान में व्यक्ति और वातावरण कहा है। एक तीसरा तत्त्व ईश्वर भी है और मेरा संस्कारी मन उसके अस्तित्व का निषेध करने को प्रस्तुत नहीं है, परन्तु उसको मैं आत्म से पृथक् वस्तु रूप में नहीं ग्रहण कर पाता। आत्म सतत प्रयत्नशील है—वह अनात्म के द्वारा अपने को अभिव्यक्त करने का सतत प्रयत्न करता रहता है—इसी को हम जीवन कहते हैं। अनात्म अनेक रूप वाला है—उसी के विभिन्न रूपों के अनुसार यह प्रयत्न भी अनेक रूप धारण करता रहता है—दूसरे शब्दों में आत्माभिव्यक्ति के भी अनेक रूप होते हैं। इनमें आत्म की जो अभिव्यक्ति शब्द और अर्थ के द्वारा होती है उसका नाम साहित्य है। जब हम अपनी इच्छा को कर्म में प्रतिफलित कर पाते हैं तो हमें कर्म द्वारा आत्माभिव्यक्ति का आनन्द मिलता है। मैं जो चाहता हूं वह कर रहा हूँ—यह कर्म द्वारा आत्माभिव्यक्त है—इसमें विशेष भौतिक व्यवहारों के द्वारा मैं आत्म का प्रतिसंवेदन का आस्वादन कर रहा हूँ। इसी प्रकार जब हम अपने अनुभव को शब्द और अर्थ द्वारा अभिव्यक्त कर पाते हैं तो हमे एक दूसरे माध्यम के द्वारा आत्माभिव्यक्ति का आनन्द मिलता है। यह माध्यम पहले की अपेक्षा स्पष्टतः ही अधिक सूक्ष्म और सीधा भी है—सीधा इसलिए है कि हमारा अनुभव बिना शब्द-अर्थ की पकड़ में आए कोई रूप ही नही रखता—जब तक वह शब्द और अर्थ की पकड़ में नही आता, उसका अस्तित्व संवेदन से पृथक् कुछ भी नही है—उसका वैशिष्ट्य तभी व्यक्त होता है जब वह शब्द और अर्थ में बँध जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि अनुभव को शब्द-अर्थ-रूपी माध्यम की अनिवार्य अपेक्षा रहती है—

इच्छा और कर्म का सम्बन्ध अनिवार्य नहीं है, परन्तु अनुभव और शब्द-अर्थ का सम्बन्ध सर्वथा अनिवार्य है।

दूसरा प्रश्न स्वभावतः यह उठता है कि आत्माभिव्यक्ति का पूरा मूल क्या है—लेखक के अपने लिए उसकी क्या सार्थकता है और दूसरों के लिए उसका क्या उपयोग है। तो, जहां तक लेखक का सम्बन्ध है, आत्माभिव्यक्ति की सार्थकता उसके आत्म-परितोष में है—काव्य शास्त्रों ने जिसे सृजन-सुख कहा है। अपने पूर्णता के साथ अभिव्यक्त करना—चाहे वह कर्म के द्वारा हो अथवा वाणी द्वारा, या किसी भी अन्य उपकरण के द्वारा हो, व्यक्तित्व की सबसे बड़ी सफलता है। वाणी में कर्म की अपेक्षा स्थूलता और व्यावहारिकता कर्म तथा सूक्ष्मता और आन्तरिकता अधिक होती है, अतएव वाणी के द्वारा जो आत्माभिव्यक्ति होगी उससे आनन्द में सूक्ष्मता और आंतरिकता स्वभावतः ही अधिक होगी—दूसरे शब्द में यह आनन्द अधिक परिष्कृत होगा। अतः निष्कर्ष यह निकला कि यह आत्माभिव्यक्ति लेखक को एक सूक्ष्मतर परिष्कृत आनन्द प्रदान करती है। मुझ जैसे व्यक्ति को तो, जो आनन्द को जीवन की चरम उपयोगिता मानता है, उसके आगे और कुछ पूछना नहीं रह जाता। परन्तु उपयोगितावादी यहां भी प्रश्न कर सकता है कि आखिर इस परिष्कृत आनन्द की ही ऐसी क्या उपयोगिता है। इसका उत्तर यह है कि इसके द्वारा लेखक के अहं का संस्कार होता है—उसकी वृत्तियों में कोमलता, शक्ति, सामंजस्य, सूक्ष्म-ग्राहकता, अनुभूति-क्षमता, आदि गुणों का समावेश होता है और उसका व्यक्तित्व समृद्ध होता है। शब्द और अर्थ अत्यन्त आंतरिक उपकरण है, उनके द्वारा जो सफल आत्माभिव्यक्ति होगी, उसमें निश्छलता अनिवार्यतः वर्तमान रहेगी (क्योंकि बिना उसके आत्माभिव्यक्ति सफल हो ही नहीं सकती)—और उपयोगिता की दृष्टि से निश्छलता मानव-मन की प्रमुख विभूतियों में से है। अन्य गुण तो बहुत कुछ व्यक्ति-सापेक्ष हो सकते हैं—अर्थात् कवि के अपने व्यक्तित्व के अनुसार न्यूनाधिक

हो सकते हैं, परन्तु निश्छलता प्रत्येक दशा में साहित्यगत आत्माभिव्यक्ति के लिए अनिवार्य होगी—अतएव उपयोगिता की दृष्टि से भी बड़ी सरलता से यह कहा जा सकता है कि यह आत्माभिव्यक्ति लेखक को चाहे उसमें कैसे ही दुर्गुण क्यों न हों अपने प्रति ईमानदार होने का सुख देती है, और इस प्रकार अनिवार्य रूप से उसके व्यक्तित्व का संस्कार करती है।

यहीं एक और शंका का समाधान कर लेना उचित होगा—वह यह कि कहीं इस आत्माभिव्यक्ति के द्वारा अहंकार का पोषण तो नहीं होता। इसके उत्तर में मेरा निवेदन है कि अहंकार और अहं दो भिन्न वस्तुएँ हैं—अहंकार जहाँ स्वभाव का एक दोष है वहाँ अहं समस्त वृत्तियों की समष्टि का नाम है—जिसे दूसरे शब्दों में आत्म भी कहते हैं। साहित्यगत आत्माभिव्यक्ति जीवन की सभी संक्रियाओं की भाँति अहं अर्थात् आत्म का पोषण तो निश्चय करती है, परन्तु अहंकार का पोषण उसके द्वारा संभव नहीं, क्योंकि उसके लिए जैसा कि मैंने अभी कहा, निश्छलता अनिवार्य है। निश्छल आत्माभिव्यक्ति आत्मसाक्षात्करण के क्षणों में ही संभव हो सकती है और आत्म-साक्षात्कार में दंभ के लिए स्थान कहाँ। अभिनव ने इसीलिए इसको उत्तम प्रकृति कहा है और उसके लिए तमोगुण और रजोगुण के ऊपर सत्त्वगुण का प्राधान्य आवश्यक माना है। उस दिन इसी विषय पर श्री जैनेन्द्रकुमार से बातचीत हो रही थी। उनका कहना था कि साहित्यकार का अहं स्वभावतः अत्यन्त तीव्र होता है—यहाँ तक कि वह उसके मारे परेशान रहता है। साहित्य सर्जन द्वारा वह इसी अहं से मुक्ति पाने का प्रयत्न करता है—अपनी सृष्टि में वह इस अहं (अहंकार के नीचे दबी हुई पीड़ा) को व्यक्त करता हुआ अपने को घुला देने का प्रयत्न करता है। साहित्य अपने शुद्ध रूप में अहं का विसर्जन है। जैनेन्द्र जी के चिंतन पर गांधी की—अथवा और व्यापक रूप में लीजिए तो संतों की आत्मपीड़नमयी चिंताधारा का प्रभाव है, इसलिए उन्होंने

आध्यात्मिक शब्दावली—'अहं का निरार्जन' का प्रयोग किया है। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह विसर्जन वास्तव में 'अहं' का संस्कार ही है—इसके द्वारा अहंकार का पूर्ण विसर्जन होकर अन्त में अत्यन्त सूक्ष्म रीति से अहं—अर्थात् आत्म का उन्नयन ही होता है। आत्म के इस गोपन से आत्म का दर्शन प्राप्त होता है। प्रेम की चरम स्थिति में, जहाँ वासना सर्वथा अभुक्त रहती है, संपूर्ण और आत्म समर्पण की संभावना है इसमें संदेह नहीं—भक्त का भगवान् के प्रति पूर्ण आत्म निवेदन वैष्णव साहित्य की अत्यन्त परिचित घटना है। परन्तु इस आत्म समर्पण अथवा निवेदन में अहं का विनाश नहीं है—प्रेमी अथवा भक्त अपने अहं की प्रेम-पात्र अथवा इष्टदेव में प्रक्षिप्त कर उससे तदाकार होता हुआ अंत में फिर उसे आत्मलीन कर लेता है। आत्म का यह संस्कार समष्टि के प्रेम में और भी प्रत्यक्ष हो जाता है—रागात्मिका वृत्ति को व्यष्टि के संकुचित वृत्त से निकाल कर समष्टि की ओर प्रेरित करने से स्वभावतः ही उसका विस्तार हो जाता है।[1] यहाँ अहं समाज के सम्मिलित अहं से तद्रूप हो जाता

---

१. परन्तु यह भूमि अपेक्षाकृत कठिन है—व्यष्टिगत प्रेम जितना सहज और सुलभ है, उतना समष्टिगत प्रेम नही है। इसमें आत्म प्रवंचना एवं प्रदर्शन के लिए स्थान अधिक है—इसलिए नेता लोग आत्म का संस्कार करने की अपेक्षा प्रायः अहंकार का संवर्द्धन कर लेते है। देश और समाज के बड़े-बड़े नेता पुष्कल यश और योग्यता के होने पर भी प्रायः उत्तम साहित्य की सृष्टि मे असफल रहते हैं, और एक साधारण, अपने मे खोया हुआ व्यक्ति उसमें सफल हो जाता है। उसका कारण यही है कि नेता के जीवन में प्रदर्शन के अवसर अधिक और आत्म साक्षात्कार के क्षण विरल होते है, और ऊपर से असामाजिक दिखने वाले इस व्यक्ति को अपने प्रति ईमानदार और निश्छल मिलते होने के क्षण अधिक मिलते रहते है। किसी वृहत् आंदोलन को लेकर खड़े होने वालों की स्थिति

है। इस प्रकार व्यक्ति जितना देता है उससे बहुत अधिक प्राप्त कर लेता है। यह ठीक है कि अधिक पाने के लोभ से प्रयत्नपूर्वक वह आत्मदान नहीं करता—परन्तु इससे हमारी धारणा में बाधा नहीं पड़ती हमारा निवेदन केवल यही है कि इस प्रकार अंत में आत्म का लाभ ही होता है, हानि नहीं।

अब प्रश्न का दूसरा अंश लीजिए; लेखक की इस आत्माभिव्यक्ति का दूसरों अर्थात् समाज के लिए क्या उपयोग है। पहला उपयोग तो यही है कि सहानुभूति के द्वारा सामाजिक को उससे परिष्कृत आनन्द उनकी संवेदनाओं को समृद्ध करता हुआ उनके व्यक्तियों को समृद्ध बनाता है—जीवन में रस उत्पन्न करता है; पराजय और क्लांति की अवस्था में शांति और माधुर्य का संचार करता है। इस प्रकार की निश्छल आत्माभिव्यक्तियों ने सामाजिक चेतना का कितना संस्कार किया है, इसका अनुमान लगाना आज कठिन है। हिन्दी की रीति कविता को ही लीजिए।

आज उसे प्रतिक्रियावादी कविता कहकर लांछित किया जाता है, और एक दृष्टि से आरोप सर्वथा उचित भी है, परन्तु उसके मधुर छंदों ने पराभव-मूढ़ समाज की कोमल वृत्तियों को सरस रखते हुए उसकी जड़ता को दूर करने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग दिया था, इसका निषेध क्या आज कोई समाजशास्त्री कर सकता है। बड़े-बड़े लोकनायकों ने अपने संघर्षक्लांत मनों को इसी की संजीवनी से सरस किया है। लेकिन जैसे समष्टिवादी नेता पर पुश्किन की वैयक्तिक अभिव्यक्तियों का कितना गहरा प्रभाव था, इसको वह स्वयं लिख गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि लेखक की निश्छल आत्माभिव्यक्ति के द्वारा जो

इनसे भी अधिक जटिल है—क्योंकि उसमें सिद्धान्त की बौद्धिकता और उसके साथ प्रदर्शन का मोह भी अधिक रहता है।

परिष्कृत आनन्द प्राप्त होता है वह स्वयं एक बड़ा वरदान है—नैतिक एवं सामाजिक मूल्य से स्वतन्त्र भी उसका एक स्वतन्त्र महत्त्व है, जिसको तुच्छ समझना स्थूल बुद्धि का परिचय देना है।

परन्तु मैं नैतिक एवं सामाजिक मूल्य का निषेध नहीं करता। जीवन में नीति और समाज की सत्ता अतर्क्य है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, सामूहिक हित उसके अपने व्यक्तिगत हितों से निश्चय ही अधिक प्रबल है। समाज के संगठन और हितों की रक्षा करने वाले नियमों का संकलन ही नीति है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उसकी अपेक्षा करनी होगी। लेखक मनुष्य-रूप में समाज का अविभाज्य अंग है—साधारण व्यक्ति की अपेक्षा उसमें प्रतिभा अधिक है अतएव उसी अनुपात से उसका दायित्व भी अधिक है। जिस समाज ने उसे जीवन के उपकरण दिए; बौद्धिक और भावगत परम्पराएँ दी उसका ऋण-शोध करना उसका धर्म है। इससे स्वार्थ-साधना की संकुचित भूमि से उठकर उसके अहं का उन्नयन और विस्तार होता है और इस प्रकार उसको अभ्युदय और निःश्रेयस्, दोनों की ही सिद्धि होती है। परन्तु ये सब तर्क नैतिक हैं, साहित्यिक नहीं। उपर्युक्त कर्त्तव्य-निर्णय सामाजिक का है, लेखक का नहीं और स्पष्ट शब्दों में, सामाजिक के रूप में लेखक निस्संदेह उपर्युक्त दायित्व में बँधा हुआ है—और उसके निर्वाह में यदि त्रुटि करता है तो वह नैतिक दृष्टि से अपराधी है, परन्तु लेखक के रूप में उसके ऊपर इस प्रकार का बन्धन नहीं है, लेखक रूप मे उसका दायित्व केवल एक है—निश्छल आत्माभिव्यक्ति। समाज का तिरस्कार करने से उसके आत्म की क्षति होगी और उसी अनुपात से उसके साहित्य के वस्तु-तत्त्व की भी हानि होगी, परन्तु जब तक वह निश्छल आत्माभिव्यक्ति करता रहेगा, उसकी कृति मूल्यहीन नहीं हो सकती। क्योंकि निश्छलता का सात्त्विक आनन्द वह तब भी अपने को और अपने समाज को दे सकेगा। इसी तथ्य को दूसरे प्रकार से भी प्रस्तुत किया जा सकता है। एक व्यक्ति है जो सामा-

जिक दायित्व के प्रति अत्यन्त सचेत है—वैयक्तिक स्वार्थ-साधन को छोड़, समाज सेवा में ही वह अधिकांश समय व्यतीत करता है, उसका व्यक्तित्व बहुत कुछ सामाजिक एवं सार्वजनिक हो गया है। समाज के लिए उसने बहुत कुछ बलिदान किया है, उसकी आवाज में शक्ति है और मान लीजिए, यह व्यक्ति लेखक भी है। परन्तु यह आवश्यक नही है कि उसका साहित्य एक दूसरे व्यक्ति के साहित्य से, जिसके व्यक्तित्व में सामाजिक गुण नहीं है, अनिवार्यतः उत्कृष्ट होगा। उत्कृष्ट होने के लिए उसमें एक और गुण होना चाहिए—निश्छल आत्माभिव्यक्ति। आत्माभिव्यक्ति के दो अंग हैं—एक आत्म और दूसरा उसकी निश्छल अभिव्यक्ति। इनमें भी निश्छल अभिव्यक्ति अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उसके बिना कृति को साहित्य होने का गौरव ही नहीं मिल सकता। आत्म भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अभिव्यक्ति की निश्छलता समतुल्य होने पर आत्म की गरिमा ही सापेक्षिक महत्त्व का निर्णय करेगी। वास्तव में महान् साहित्य की सर्जना उसी लेखक के लिए सम्भव है जिसका आत्म महान् हो। जब तक उसका अहं महान् अर्थात् उन्नत, व्यापक और गम्भीर नहीं है, तब तक उसकी कृति महान् नहीं बन सकती—मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि अहं का यह उन्नयन, विस्तार और गांभीर्य, व्यष्टि-वृत्त से निकल कर समष्टि के साथ तादात्म्य करने से ही बहुत कुछ सम्भव है। (विश्व-कवियों के जीवन में इस प्रकार का तादात्म्य सदैव रहा है।) परन्तु इस विषय में मेरे दो निवेदन हैं—एक तो यह है कि इतना सब कुछ होते हुए भी अभिव्यक्ति की निश्छलता ही साहित्य का पहला और अनिवार्य लक्षण है। महान् व्यक्ति के अभाव में कोई कृति महान् साहित्य नहीं हो सकती, पर निश्छल अभिव्यक्ति के अभाव में तो वह साहित्य ही नहीं रहती, केवल व्यक्तित्व की महत्ता उसे साहित्य का गौरव नहीं दे सकती। दूसरा यह कि व्यक्तित्व की महत्ता अर्थात् उसका विस्तार और गांभीर्य, जीवन के महत्तर मूल्यों के साथ तादात्म्य करने से प्राप्त होते हैं, और यह महत्तर

मूल्य अन्त में बहुत कुछ समष्टि-गत मूल्य ही होंगे, यह ठीक है। परन्तु इनका निर्णय स्थूल दृष्टि से बाह्य (सामाजिक और राजनीतिक) आंदोलनों को सामने रखकर नहीं करना होगा, वरन् व्यापक और सूक्ष्म धरातल पर देश और काल की सीमाओं को तोड़कर बहती हुई अखंड मानव-चेतना के प्रकाश में ही करना होगा। प्रत्येक युग और देश अपनी समस्याओं में खोया हुआ, इस सत्य का विस्तार कर सामयिक आवश्यकताओं के अनुसार साहित्य पर भी अधकचरे निर्णय देता रहा है, परन्तु इतिहास साक्षी है कि ये निर्णय अस्थायी हो रहे हैं। सामयिक आवश्यकताएँ पूरी हो जाने पर उस अखंड मानव-चेतना ने तुरन्त ही अपनी शक्ति का परिचय दिया है और उस निर्णय में उचित संशोधन कर दिया है। समय ही साहित्य का सबसे बड़ा आलोचक है, यह मान्यता उपर्युक्त तथ्य की ही स्पष्ट स्वीकृति है। यहाँ अखंड मानव-चेतना की बात सुनकर शायद आप चौंक उठें परन्तु मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि यह बड़ा निर्दोष शब्द है, इसके द्वारा मैं किसी आध्यात्मिक तत्त्व की ओर रहस्य संकेत नही कर रहा। एक युग और एक देश की चेतना से भिन्न जो युग-युग और देश-देश की व्यापक चेतना है उसी से मेरा अभिप्राय है। ऐसी चेतना आध्यात्मिक रहस्य न होकर एक भौतिक तथ्य ही है।

पारिभाषिक शब्दावली की सहायता लेकर कहा जा सकता है कि एक युग और देश की चेतना का सम्बन्ध राजनीतिक अथवा सामाजिक नैतिक मूल्यों से है, और युग-युग तथा देश-देश की चेतना का सम्बन्ध मानवीय मूल्यों से है। इन दोनों में साधारणतः कोई विरोध नही है, वास्तव मे मानवीय मूल्यों में सामाजिक नैतिक मूल्यों का अंतर्भाव हो जाता है। परन्तु विशेष परिस्थितियो मे यदि विरोध हो भी जाय तो मानवीय मूल्य ही अधिक विश्वसनीय माने जायेंगे।

डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम'

(संवत् १९५८ वि०)

डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम' जी का जन्म जिला आगरा की तहसील फिरोजाबाद के एक ग्राम 'ओखरा' में विक्रमी संवत् १९५८ मार्गशीर्ष कृष्ण पंचमी शनिवार को हुआ था। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा गाँव से ही हुई थी। आपने हाईस्कूल परीक्षा एटा के गवर्नमेण्ट हाई स्कूल से उत्तीर्ण की और प्रान्त भर में छठाँ स्थान प्राप्त किया। डी० ए० वी० कालेज, कानपुर से इण्टर और बी० ए० की परीक्षाएँ उत्तीर्ण करने के बाद १९२६ ई० में आपने डी० ए० वी० कालेज, लाहौर से संस्कृत में एम० ए० की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया। उसके पश्चात् आपने हिन्दी एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् १९२६ से जून सन् १९६२ तक आप डी० ए० वी० कालेज, कानपुर में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष पद पर रहे। उसी कार्य-काल में आपने सन् १९५३ ई० में पी-एच०डी० तथा सन् १९५८ ई० में डी०लिट्० उपाधियाँ प्राप्त कीं।

आचार्य 'सोम' भाव-प्रवण कवि, साहित्य-मर्मज्ञ समीक्षक, गद्य-काव्य तथा निबंध-रचना में दक्ष गद्यकार, वेदों के शोधकर्ता तथा अथक अध्ययन-रत विद्वान् हैं। 'विरहिणी' आपका महाकाव्य तथा 'गणेश-गीतांजलि' खंड-काव्य है। आपने हिन्दी साहित्य के इतिहास तथा आलोचना पर भी ग्रंथ लिखे हैं। 'भारतीय साधना और सूर-साहित्य' आपका पी-एच० डी० उपाधि के लिए लिखा गया शोध-प्रबंध है। डी० लिट्० के लिए इन्होंने 'भक्ति का विकास' लिखा था। 'जीवन-दर्शन', 'तत्त्व-दर्शन', 'प्रथमजा', 'सारस्वत', 'वैदिक निबंधावली' तथा 'वेदार्थ चन्द्रिका' आपके निबन्धों के संग्रह हैं।

स्वभाव के अनुसार आपकी शैली में सर्वत्र गंभीरता उपलब्ध होती

है। सहृदयता एवं कोमलता आपके प्रमुख विशिष्ट गुण हैं। आपका हास्य-व्यंग्य भी बहुत शिष्ट एवं रचनात्मक होता है। वेदाध्ययन के लम्बे अभ्यास एवं मनन के परिणाम-स्वरूप आपकी अभिव्यक्ति में विशिष्ट वैदिक शब्दावली का सहज समावेश एवं अनायास प्रयोग पाया जाता है। इस प्रकार 'सोम' जी के व्यक्तित्व का प्रभाव उनकी शैली में सर्वत्र पाया जाता है। संस्कृत, व्रजभाषा तथा खड़ी-बोली सब पर आपका समान अधिकार है। आपकी भाषा संस्कृत तत्सम शब्दबहुल है।

गोस्वामी तुलसीदास का महत्त्व

◎◎

इस युग की विश्लेषण-मयी आलोचना पद्धति का प्रचार प्राचीनकाल में नहीं था। उस युग की संश्लेषण-प्रधान विवेचना विध्वंस के स्थान पर विधायक कार्यक्रम की ओर प्रायः अधिक अग्रसर होती थी। जिस कवि का जैसा प्रभाव पाठकों की मानस-भूमि पर पड़ता था, वैसा ही वह उग कर और पल्लवित होकर जनता के समक्ष किसी दोहे या चौपाई के रूप में उपस्थित हो जाता था। कबीर, सूर, तुलसी, गंगा, केशव प्रभृति कवियों के सम्बन्ध में इस प्रकार की आलोचनामयी अनेक पंक्तियाँ उपलब्ध होती हैं। इस विषय का निम्नांकित दोहा प्रायः सभी साहित्यिकों की जिह्वा पर विद्यमान रहता है :—

सूर-सूर तुलसी ससी, उडुगन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकास॥

इस दोहे में कवि ने सूर को सूर्य के समान तेजस्वी, प्रखर प्रतिभा-सम्पन्न; तुलसी को चन्द्र के समान शीतल, स्निग्ध, ज्योत्स्ना का प्रसारक पीयूषवर्षी; केशव को जगमग, अनिर्वचनीय, कौतूहल पूर्ण सृष्टि की रचना करने वाले तारक-दल के समान और अपने युग के कवियों को खद्योत के समान यत्र-तत्र प्रकाश करने वाला माना है।

वर्तमान युग के एक प्रकाण्ड आलोचक ने इस दोहे की मान्यता पर आपत्ति की है। उनकी दृष्टि में किसी कवि ने यमक की सनक में आकर यह दोहा लिख डाला है, नहीं तो सूर को सूर्य और तुलसी को शशि की उपमा देना कहाँ तक संगत है? इनके अनुसार तुलसी को सूर्य और सूर को शशि कहना उपयुक्त माना जा सकता है। तुलसी जैसा महा-कवि

चन्द्र बना दिया जाय—यह उन्हें सह्य नहीं हो सका। होता भी कैसे, जब चन्द्र पार्थिव है, पृथिवी की परिक्रमा करता है, हमारी पृथ्वी के अधिक समीप है और सूर्य ? ओह ! वह तो एकदम आग्नेय तथा हम से करोड़ों मील दूर ! दूर की वस्तु वैसे भी अच्छी लगती है। "गवइ गाँव को जोगना आन गाँव को सिद्ध"—यह लोकोक्ति बहुत दिनों से चली आती है। जो हमारे समीप है उसका मूल्य ही क्या ? जो दूर है वही आकर्षण का हेतु हो सकता है। अतः चन्द्र की अपेक्षा सूर्य में कहीं अधिक आकर्षण है। फिर तुलसी चन्द्र क्यों माने जायँ ? चन्द्र दूसरों से ज्योति ग्रहण करता है, उसमें स्वतः प्रकाश नहीं। सूर्य अपने प्रकाश से प्रकाशित है—उस तेजपुञ्ज को किसी अन्य स्थान से तेज ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं, वह दूसरों को प्रकाश देता है। उसका स्वभाव अन्यों से उधार लेने का नहीं है। इस प्रकार चन्द्र घटिया और सूर्य बढ़िया। फिर तुलसी को सूर्य क्यों न माना जाय ? क्यों उसे चन्द्र की उपमा दी जाय ? चन्द्र पृथ्वी का उपग्रह मात्र है, पर सूर्य ग्रह-मण्डल के बीचोबीच सिंहासन पर बैठकर राज्य करने वाला है। इतनी विशेषताओं से युक्त सूर्य ही तुलसी के लिए उपमान बन सकता है, विशेषताओं से विहीन चन्द्र नहीं।

पर जब मैंने इस दोहे पर विचार किया तो मुझे यह दोहा सर्वाङ्ग, सम्पूर्ण और उक्ति-औचित्य-समन्वित जान पड़ा। विद्वान्-आलोचक ने चन्द्र की जिन हीनताओं को उसकी न्यूनता और दुर्बलता समझा है वही मेरी समझ में उसका सर्वश्रेष्ठ उदात्त तत्त्व है। चन्द्र पार्थिव है, हमारे अधिक समीप है—यह अवगुण नहीं, एक महान् गुण है। जो मेरे समीप नहीं, वह मेरे हृदय को कैसे स्पर्श कर सकता है ? भले ही उसमें अद्भुत आकर्षणशक्ति हो, पर जब तक वह मेरे समीप नहीं आता, मुझे आकर्षित नहीं करता, जन-जन के मानस में आह्लाद की तरंगें नहीं उठाता, तब तक वह मेरे किस काम का ? तुलसी पार्थिव, घोर पार्थिव है—वह

इसी लोक की बातें करता है—अलौकिक को भी लौकिक बना देता है। वह दूर नहीं, निकट से मेरे हृदय का स्पर्श करता है। वह मेरी, मेरे समाज की, मेरी जाति की, मेरी संस्कृति की, संक्षेप में मानव हृदय की बात करता है, वह इस धरातल से उठ कर कोरी कल्पना के क्षेत्र में विचरण नहीं करता। कल्पना उसमें है, पर कोरी कल्पना नहीं, अगाध भावधारा उसमें है, पर कोरी भावना नहीं—वह इसी पार्थिव धरातल का आश्रय लेकर खड़ी हुई है। वह ममत्व से असंबद्ध नहीं, असंपृक्त नहीं, अपितु उससे बँधी हुई, मिली हुई है। अतः मेरी, मुझसे और मेरे लिए बात कहने वाला तुलसी ही मेरा शशि है, क्योंकि वह सूर्य की अपेक्षा मेरे अधिक निकट है।

कहते हैं, चन्द्र में अपनी ज्योति नहीं, वह स्वतः प्रकाशित नहीं, उसे प्रकाश के लिए परमुखापेक्षी बनना पड़ता है। अतः अन्यों के धन से धनी बनने वाला चन्द्र क्या मेरी आराधना का केन्द्र हो सकता है? और तुलसी? वह रंक की कुटी से लेकर राजाओं के प्रासाद तक पहुँचने वाला जन-जन की आराधना का केन्द्र-बिन्दु? अरे, वह चंद्र नहीं हो सकता? उसे तो सूर्य की उपमा ही शोभा देती है। पर थोड़ा सोचिए, ध्यानपूर्वक विचार कीजिए। तुलसी स्वयं अपनी सम्पत्ति को अपनी नहीं कहता वह डंके की चोट, निर्भय और निरभिमान होकर उसे दूसरो से उधार ली हुई बतलाता है। रामचरित मानस को प्रारम्भ करते ही तुलसी कह देता है:—"नानापुराण निगमागम सम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचि-दन्यतोपि; स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषानिबद्धमति मंजुल मातनोति।" अर्थात् रामचरित मानस की सामग्री अनेक पुराण, शास्त्र, वेद, वाल्मीकि रामायण तथा अन्य कई ग्रन्थों से ग्रहण की गई है। जब तुलसी स्वयं इतने स्पष्ट रूप से इस विषय में अपनी स्वीकृति दे रहे है तो हमें इस विषय के आलोचको से अधिक कहने की आवश्यकता नही रह जाती। हाँ, यह कहा जा सकता है कि दूसरों से उधार लेना

अच्छा नहीं, भगवान के अनुकूल नहीं। अच्छा प्रथम उधार लेने की बात पर विचार कीजिये। जिस वस्तु को मैं बाहर से ग्रहण करता हूँ, क्या वह मेरे अन्दर पहुँच कर भी बाहर की बनी रहती है? यदि वह बाहर की बनी रहती है, तब तो निस्सन्देह उसका उधार लिया जाना बुरा है, गर्हित है, निन्द्य है! पर जब वह मेरे अन्दर जाकर मेरा एक अंश बन जावे, मेरे रक्त, मांस और मज्जा में घुल-मिल जाय, तब उसे कौन दूसरों की सम्पत्ति कहेगा? वह तो मेरी सम्पत्ति बन गई। जिस फल को बाहर से लेकर मैं खाता हूँ, जो पदार्थ मेरे प्रतिदिन के आहार का भाग है, वह चौबीस घण्टों के अन्दर मेरा अपना बन जाता है—बाहर का नहीं रहता। इसी प्रकार तुलसी ने अपनी कथा के उपकरण कई स्थानों से ग्रहण किये, महाभारत से शैव-वैष्णवों के विग्रह-उपशम की उक्तियाँ, श्रीमद्भागवत से वर्षा, शरद् के वर्णन, देवताओं की स्तुतियाँ, वाल्मीकि से राम की गाथा, प्रसन्नराघव से स्वयंवर का वातावरण, हनुमन्नाटक से मुद्रिका आदि के प्रसंग, अध्यात्म रामायण से नाम का माहात्म्य और राम की अलौकिकता आदि आदि; पर इन सबको रामचरितमानस में इतना आत्मसात् करके अंकित किया है कि वह दूसरों से उधार लिया हुआ किसी भी अंश में प्रतीत नहीं होता। ऐसा जान पड़ता है जैसे समूचा संस्कृत वाङ्मय, समग्र आर्य संस्कृति एकत्रित होकर तुलसी के मानस से रामचरितमानस के रूप में प्रवाहित हो रही है। यदि तुलसी का मानस आर्य-संस्कृति का प्रतिफलन है, तो रामचरितमानस तुलसी के हृदय का प्रतिफलन है। इतनी महती आदर्श-राशि क्या कोई अन्य हिन्दी कवि भी दे सका है? ऐसे कितने पाठक हैं जो विभिन्न ग्रन्थों को पढ़ने की क्षमता रखते हैं। पर तुलसी की यह विशेषता है कि वह इतनी विपुल ग्रन्थ-राशि को पढ़ता है, उस पर विचार करता है, उसे आत्मसात् करता है और फिर आत्मलीन करके उसे अपने ही तक सीमित नहीं रखता, अत्यन्त उदारतापूर्वक उसे समग्र जनता को बाँट भी देता है। क्या इस

सिद्धि में तुलसी की मौलिकता पर आँच आती है ? तुलसी जो कुछ हमें देता है, वह उसकी आत्मसात् की हुई, पचाई हुई, हजम की हुई, उसकी अपनी वस्तु है और नितान्त मौलिक है । हाँ, यदि मौलिकता से तात्पर्य केवल यही समझा जाय कि वह कहीं से भी, किसी भी अन्य स्थान से न ली गई हो, उसका एक भी अंश वाहर उपलब्ध न होता हो, तो कदाचित् विश्व में कोई भी मौलिक कवि होने का दावा नहीं कर सकेगा । स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल कहा करते थे कि जो जितना महान् कवि है, वह उतना ही कम मौलिक है ।

कवि, सन्त, ऋषि प्रायः सभी एक स्वर से कहते रहे हैं कि वे जो कुछ कहते हैं या लिखते हैं वह सब प्राचीन ऋषियों की कही हुई बातें हैं और प्राचीन ऋषि स्वयं अपने ज्ञान के लिए उस परम आदि गुरु प्रभु की ओर संकेत करते रहे हैं । फिर समग्र सामग्री उपलब्ध रहने पर भी उसे एक सुसज्जित रूप देना किसी सुलझे हुए महान् मस्तिष्क का ही कार्य है; ईंट, पत्थर, चूना, लोहा आदि तो विश्व में विपुल रूप में बिखरे पड़े है, पर उन्हें एकत्रित कर भव्य भवन के रूप में परिणत कर देना तो किसी वास्तु-कलाकार का ही कार्य है । इसी प्रकार राम की पवित्र गाथा के उज्ज्वल अंश तो चारों ओर बिखरे पड़े थे, पर उन्हें रामचरितमानस जैसे रत्न या मणि में परिवर्तित कर देने का श्रेय तुलसी को ही है ।

चन्द्र की ज्योत्स्ना भी इसी प्रकार उसकी अपनी है । दूसरों से ज्योति ग्रहण करके भी उसने इस ज्योति को आत्मसात् कर लिया है—अपना बना लिया है । तभी तो चन्द्र की चाँदनी, कलाकौमुदी में सूर्यताप की प्रखरता का लवलेश भी दिखलाई नहीं पड़ता । चकाचौंध पैदा कर देने के स्थान पर वह नयनाभिराम, हृदयानुरंजनकारी, शीतल, स्निग्ध और पीयूष-वर्षिणी बन गई है । भला कहाँ प्रचण्डता और कहाँ शीतलता ? कहाँ झुलसाने-जलाने की क्रूरता और कहाँ शीतल सुधा से आप्यायित

करने की उदारता ! एक की वस्तु दूसरे के पास पहुँचकर कितनी परिवर्तित हो गई।

यह सब ध्यान में लाकर मैं सोचने लगा—क्या 'सूर सूर तुलसी ससी' कोरी गमक की सनक है ? हृदय ने उत्तर दिया—नहीं, इस दोहे की उक्ति किसी सहृदय आलोचक के हृदय से निस्सृत हुई है। वह किसी भावना एवं विवेचना-सम्पन्न आत्मा के सच्चे और वास्तविक हृदयोद्गार हैं। यदि सूर्य में महत्ता और चन्द्र में हीनता ही दिखाई देती तो कवि-कुलगुरु कालिदास पराजित परशुराम को सूर्य और विजयी राम को चन्द्र की उपमा कभी न देते।

रघुवंश का यह श्लोक उक्त दोहे की उक्ति की समीचीनता सुचारु रूप से प्रकट कर रहा है :—

तावुभावपि परस्परस्थितौ, वर्धमानपरिहीनतेजसौ।
पश्यतिस्म जनता दिनात्यये, पार्वणौ शशिदिवाकराविव॥

—रघुवंश ११-८२

वास्तव में सूर्य और चन्द्र के अपने-अपने क्षेत्र है। वैज्ञानिक दृष्टि-कोण से एक को दूसरे का पूरक कहा जा सकता है। पर कवि-दृष्टि में जो स्थान सुधाधाम सोम को प्राप्त हुआ है वह ऊष्मावास प्रभाकर को नहीं। इसी प्रकार मानव हृदय में जो स्थान तुलसी ने बना लिया है वह अन्य किसी भी कवि के भाग्य में नही बदा था।

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जराम्मरणजं भयम्॥

जो उत्पन्न हुआ है, वह एक दिन अवश्यमेव पञ्चत्व को प्राप्त होगा। पर धन्य हैं वे सुकृति-सम्पन्न रससिद्ध कवीश्वर जिनके यशःशरीर को, कीर्ति-कलेवर को, जरा और मरण का कभी भय नहीहोता। इन सरस, सहृदय, वंदनीय विभूतियों को युग-युग तक जनता स्मरण किया करती है। इन कवीश्वरों की वाणी, इनकी विचारधारा अनन्तकाल तक मानवों

की जिह्वा और मानस-भूमिका पर रमण किया करती है। गोस्वामी तुलसीदास ऐसी ही विभूतियों में से एक थे। उनके पार्थिव अस्तित्व को विलीन हुए आज तीन-सौ वर्षों से कुछ ऊपर समय व्यतीत हो गया, पर वे आज भी आर्यजाति के लिए शिरसा प्रणम्य एवं वंदनीय बने हुए हैं।

यह तो उनके स्वीकृति-सूचक शब्दों से ही प्रकट है कि रामचरित-मानस का प्रणयन गोस्वामी जी ने स्वान्तः सुखाय ही किया था; रामचरितमानस लिखकर उन्होंने अपने मानस को ही सुख, शान्ति एवं तृप्ति प्रदान करने का प्रयत्न किया था। पर यदि उनके मानस का विश्लेषण किया जाय तो यह मानस एक व्यक्ति तक ही सीमित न रहकर समूची आर्य जाति का मानस सिद्ध होगा। गोस्वामी जी का हृदय संस्कृत वाङ्मय के अनुशीलन एवं प्रतिफलन द्वारा आर्य जाति के हृदय रूप में परिणत हो गया था। अतः उनके हृदय की सुख-दुःख-मयी, राग-विराग-मयी अनुभूति उनके संकुचित व्यक्तित्व तक ही परिमित न रह कर समग्र आर्यजाति की अनुभूति बन गई थी। इसी हेतु उनका स्वान्तः सुखाय आर्यान्तः सुखाय था। इस अन्तःसुखाय-रूप प्रधान उद्देश्य के लिये काव्य उनका साधन रूप था। इसी के द्वारा उन्होंने अपनी उद्देश्य-सिद्धि को चरितार्थ किया।

कतिपय आलोचक गोस्वामी जी के कवित्व-शक्ति-नैपुण्य पर अंगुलि उठाने लगे हैं। इन आलोचकों की दृष्टि में तुलसी का काव्य हीन कोटि का है। उनकी काव्यकौमुदी को सुधारक एवं उपदेष्टा रूपी राहु ने ग्रसित कर लिया है। उनकी प्रकृति-पर्यवेक्षण-प्रभा दार्शनिकता की मेघ-श्यामिका से आच्छादित हो गई है। उनकी भावधारा राम की रहस्य-मयी सत्ता से कुण्ठित, अवरुद्ध एवं विरूप हो उठी है। जो कवि नहीं, सुधारक और उपदेशक का कार्य करता है, दार्शनिक और आचार्य के पद पर आसीन होना चाहता है, उनकी रचना में काव्यकला की कमनीयता कैसे उपलब्ध हो सकती है?

आलोचकों की आलोचना में संभव है, कुछ तथ्य हो; पर उनकी छु-टीकता दूसरों के टीका लगाने के अतिरिक्त अन्य कुछ भी कार्य नहीं करती। इनकी टीका तुलसी को कवि न मानने के लिये वाध्य होती है तो होने दीजिये; गोस्वामी जी ने अपने को कवि कब घोषित किया है? वे तो ऐसे आलोचकों से विनम्र होकर कह रहे है :—"कवित विवेक एक नहि मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे॥" तथा "कवि न होउँ नहि चतुर कहाऊँ। मति अनुरूप राम गुन गाऊँ॥" अरे भाई, काव्य का ज्ञान मुझे कुछ भी नही है। मैं कवि नहीं हूँ। मेरी रचना मे कवित्व का अनुसंधान आप व्यर्थ ही करते हैं। कवि बनना मेरा उद्देश्य नही है। मेरे जीवन का तो एक ही ध्येय है, मेरा रोम-रोम इसी ध्येय के गायन में लीन है—यह ध्येय है, सर्वत्र रमण करने वाले राम का गुण-कीर्तन। मैं तो अपनी वुद्धि के अनुसार इस राम के गुणों को गा रहा हूँ—कविता नहीं कर रहा। यदि इस गुणगान के साथ कही काव्य-कला आ गई है, तो वह तो भगवद्‌भजन के समय भगवती भारती का वीणावादन है, जो अपने आप उपस्थित हो जाता है। मैंने उसके लिये आयोजना नही बनाई, कोई प्रयास नही किया। मेरा उद्देश्य तो राम-गुण-गान ही है।

तुलसी का यह राम क्या है? रामचरित मानस का परायण करने के उपरान्त प्रत्येक सहृदय पाठक कह उठेगा—यह राम आर्य संस्कृति एवं सभ्यता का प्रतीक है, आर्य जाति की आचार-विचार-प्रणाली की प्राणधारा है। राम शब्द के उच्चारण में जैसे हमारे समस्त क्रियाकलाप का उद्‌घोष है। तुलसी अपने समय की पद-दलित पराधीन आर्य जाति को इसी आर्य संस्कृति के निदर्शक पुण्य धाम राम का पवित्र संदेश देने आया था। वह आर्य जाति को राममय बनाना चाहता था, उनके चरित्र के अनुकरण द्वारा इसे पुनः जीवित-जागृत करने आया था।

गोस्वामी जी के सम्मुख भक्ति-भाव-भरित श्रीमद्‌भागवत का श्रीकृष्ण चरित था। पवित्र-चरित्र राम की यशोमयी गुणगाथा भी उसके एक

अध्याय में आ गई है, परन्तु जिस तल्लीनता के साथ भागवतकार ने श्रीकृष्ण का चरित्र अंकित किया है, उस तल्लीनता के साथ राम का नहीं। श्रीमद्भागवत द्वारा श्रीकृष्ण का भक्ति की उत्तरापथ तथा दक्षिणापथ में प्रभूत प्रचार हुआ। रामभक्ति के प्रचार के लिए श्रीमद्भागवत जैसे किसी अनूठे ग्रंथ की ही आवश्यकता थी। आर्य जाति की इसी आवश्यकता को हृदयंगम करके गोस्वामी जी ने रामचरितमानस निर्माण किया, जिसमें श्रीमद्भागवत के अनेक अंश ज्यों के त्यों आ गये हैं। श्रीकृष्ण के चरित की अपेक्षा राम के चरित में लोक-संग्रही आदर्शों की अधिकता थी ही। अतः तुलसी ने अपनी मंगलविधायिनी कल्पना द्वारा इन आदर्शों की कल्याणकारिणी सृष्टि खड़ी करके आर्य जाति को जीवन-प्रदायिनी शक्ति प्रदान की।

आदर्श किसी मार्ग पर चल कर ही प्राप्त होते हैं। मार्गों का निर्माण एक दिन में नही हो जाता। जनता किसी बुद्धिमान के पदचिह्नों का बार-बार अनुकरण करती हुई पथ-निर्माण करती है। अनेक बार के पद-संचार से शनैः-शनैः एक लकीर-सी बन जाती है। यही आगे चलकर चौड़ी होती हुई राजपथ में परिवर्तित हो जाती है, जिस पर चल कर एक साधारण पथिक भी आयास का अनुभव नहीं करता। आर्य जाति के आदर्श-पथ भी इसी प्रकार निर्मित हुए हैं। कई शताब्दियों के उलट-फेर के पश्चात् आर्य जाति ने अपनी एक विशेष संस्कृति स्थापित की। क्रमशः विकसित होती हुई यह संस्कृति अपने अत्यन्त पुनीत एवं उज्ज्वल रूप में रामचरितमानस में अभिव्यक्त हुई।

रामचरितमानस भगवान राम की भक्ति से तो लबालब भरा ही हुआ है; साथ ही अन्य देवों के प्रति अपनी प्रगाढ़ श्रद्धा का परिचय देता हुआ अतीव सामंजस्यात्मक रूप को भी ग्रहण किये हुए है। व्यक्ति और समाज, शूद्रत्व और ब्राह्मणत्व, स्त्रीत्व और पुरुषत्व, नियम और श्रद्धा, लोकधर्म और सन्तवृत्ति, वाह्यशक्ति और अन्तःशक्ति सभी का

उसमें सुन्दर सामंजस्य दिखाई देता है। आर्य संस्कृति का विशुद्ध परिमार्जित रूप जो क्रमशः विकसित होकर हमारे अंग-अंग में समाविष्ट हो गया, इसी सामंजस्य पर आधारित है। यह सामंजस्य पराधीनता के वातावरण में लुप्त हो चला था। गोस्वामी जी ने उसकी पुनः प्रतिष्ठा करने का भगीरथ प्रयत्न किया। इस रूप में वे आर्य संस्कृति के महान् रक्षक के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं।

रामचरितमानस में आर्य संस्कृति का यह रूप प्रारम्भ से अन्त तक व्याप्त है। उसमें भाई-भाई का प्रेम, पति-पत्नी का कर्तव्य, पुत्र-पिता का सम्बन्ध, गुरु-शिष्य का आचार, स्वामी-सेवक की कार्यदिशा, मित्र-मित्र का व्यवहार, राजा-प्रजा की पारस्परिक शिष्टता आदि सभी बातों का समावेश है। पुत्र कैसा हो, इस विषय पर निम्नलिखित पंक्तियाँ अवलोकनीय हैं :—

सुन जननी सोइ सुत बड़भागी। जो पितु मातु वचन अनुरागी ॥
धन्य जन्म जगतीतल तासू। पितहिं प्रमोद चरित सुनि जासू ॥

मित्र का कर्तव्य इन पंक्तियों में कितने स्पष्ट रूप से प्रकट हो रहा है:—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहिं विलोकत पातक भारी ॥

राजा के कर्तव्य का सार इन शब्दों से बढ़ कर कहीं मिल नहीं सकता :—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवशि नरक अधिकारी ॥

कर्म का प्रभाव देखिए :—

कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा ॥

पददलित व्यक्ति अथवा जाति को सांत्वना देते हुए तुलसी कहते हैं :—

सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कहेहु मुनि नाथ।
हानि लाभ जीवन मरण, यश अपयश विधि हाथ ॥

एक ओर दैव प्रभाव और दूसरी ओर कर्मनिष्ठा दोनों पर सम्यक् प्रकाश डालने वाले तुलसी को एकांगिता-दोष से कौन दूषित कर सकता है ? जिसने खल और साधु दोनों की वन्दना की, तात्त्विक दृष्टि से दोनों के गुण अवगुणों का उल्लेख किया, वह तुलसी वास्तव में व्यापक दृष्टि रखने वाला महान् पुरुष था। उस पराधीनता के युग में पावन आर्य आदर्शों के सुन्दर चित्रण के साथ भक्ति की पुनीत मन्दाकिनी को जिसने प्रवाहित किया, जिसमें स्नान करके आर्य जाति एक बार तो स्वाधीन वातावरण में साँस लेने ही लगी थी, उस रससिद्ध अमर कवि तुलसी के मानस को इन पंक्तियों से बढ़कर अन्य कौन पंक्तियाँ प्रकट कर सकेंगी—

मोरे हित हरि सम नहिं कोऊ। सो सहाय एहि अवसर होऊ॥
दीन दयाल विरद संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी॥

उस महाकवि की स्वरावली के साथ अपना स्वर मिला कर जैसे आर्यजाति ही अपना दुःख-निवेदन प्रभु के चरणों में कर रही हो। धन्य है ऐसा यशस्वी, गौरवसम्पन्न कवि और धन्य है उसकी अमर ग्रन्थ राशि !

●

डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल

(जन्म सन् १९१४)

डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल का जन्म कानपुर जिले की घाटमपुर तहसील के अन्तर्गत ओरिया ग्राम में २ अगस्त, सन् १९१४ को हुआ था। आपकी सम्पूर्ण शिक्षा-दीक्षा कानपुर में ही हुई। सन् १९४१ में आपको आगरा विश्वविद्यालय से एम० ए० की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त हुआ। इसी वर्ष अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की 'साहित्यरत्न' परीक्षा में भी आपको प्रथम श्रेणी में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त हुआ। सन् १९४३ से आपने डी० ए० वी० कालेज कानपुर में हिन्दी प्राध्यापक के रूप में कार्य प्रारंभ किया और सन् १९६२ से वहीं पर आप हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष पद पर प्रतिष्ठित हैं।

सन् १९५२ में श्री शुक्ल जी ने 'हिन्दी साहित्य में विविधवाद' शीर्षक शोध-प्रबन्ध पर पी-एच० डी० की उपाधि तथा सन् १९ में 'संत साहित्य की भाषा' नामक प्रबन्ध पर डी० लिट्० उपाधि प्राप्त की। इन दोनों ग्रंथों को राजकीय सम्मान मिलने साथ ही साथ विद्वज्जगत् में भी इनका समादर हुआ है। अतिरिक्त 'भारतेन्दु की नाट्यकला', 'प्रेमचन्द' 'संत कबीर' आपकी कृतियाँ हैं।

डॉ० शुक्ल अपने विद्यार्थी जीवन से ही राष्ट्रीय विच के रहे हैं। स्वातंत्र्य-संग्राम में आपने सक्रिय भाग लिया है। सेवा की भावना आपको सदैव अनुप्राणित करती रही है। और समाज के प्रति सेवा-भावना के कारण ही आपका सरल एवं उदार है। कर्मठता आपके जीवन का विशिष्ट

आपके स्वभाव में व्याप्त सरलता एवं गंभीरता आपकी रचना-शैली में भी सर्वत्र पाई जाती है। सरस, करुण एवं भावपूर्ण स्थलों में डॉ० शुक्ल की रचनाशैली भी विषय के अनुरूप ही अपना सहज स्वरूप निर्मित करती चलती है। आपने साहित्य को जीवन से अनुस्यूत माना है और इसीलिए आप जीवन के उच्चातिउच्च आदर्शों की प्रतिष्ठा साहित्य में प्राप्त करने के पक्षपाती हैं।

संत कबीर

⊙⊙

भारतवर्ष में संतों की परम्परा भारतीय साहित्य के मूलस्रोत तक पहुँचती है। वैदिक साधना को लेकर हमारे सामने दो प्रकार के ग्रन्थ आते हैं—(१) ब्राह्मण (२) उपनिषद् ग्रन्थ। ब्राह्मण ग्रन्थ कर्म-कांड की उपादेयता प्रतिपादित करते हैं और उपनिषद् ग्रंथों के ऋषियों ने भक्ति के स्वरूप को ज्ञान के आधार से प्राप्त करना चाहा। उपनिषद्-ग्रन्थों की चिन्तनधारा को जैनियों एवं बौद्धों ने भी स्वीकार किया। हम देखते हैं कि उपनिषद् ग्रंथों के ऋषि, जैनियों के तीर्थंकर और बौद्धों के श्रवण-परिव्राजक, अर्हन्त, भन्ते आदि एक ही विचारधारा के पोषक थे। ये साधक ब्रह्म-तत्व को जानते थे, अतः उन्हें संतनाम से अभिहित किया गया।

संतों की जो परम्परा उपनिषद्-काल से चली उसमें क्रमशः नाम-भेद होता गया और संत शब्द उन महात्माओं के लिये प्रयुक्त होने लगा जो साम्प्रदायिक रूप में निर्गुण-ब्रह्म की उपासना करते थे। निर्गुण उपासना के कारण ही ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ तथा तुकाराम के लिये संत शब्द का प्रयोग होता है। धीरे-धीरे संत शब्द रूढ़-सा हो गया और सैद्धान्तिक एकरूपता के कारण पीछे कबीर तथा उनके अनुयायियों के लिये संत शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। संत का महत्त्व उसके रूप में नहीं, गुण में है। जो व्यक्ति प्रभु को अपने में निरन्तर लीन किये है, वही सच्चा सन्त है। उसे न तो सुख प्रमादी बनाता है और न दुःख पलायनवादी। कामनाओं के कलुषित व्यापार उसकी बुद्धि को मलिन नही करते। उसके स्वभाव में गम्भीरता एवं धैर्य रहता है। भूख-प्यास

उसे कभी नहीं व्यथित करती, शोक और मोह उसे चंचल नहीं करते। जिस प्रकार समुद्र सदैव मर्यादित तथा अविकारी रहता है, उसी प्रकार संत भी एकरस एवं एकरूप रहता है। वह सतत अहंकार से शून्य एवं भोग साधन में ममता रहित होकर पूर्ण शक्ति का उपभोग करता है। संत की स्थिति ब्राह्मी स्थिति मानी जाती है जिसमें अवस्थित होकर उसका अन्तःकरण पूर्णतः विशुद्ध हो जाता है।

संत का मन सदैव ब्रह्मनिष्ठ रहता है। अतः वह दुःख का बोध नहीं कर पाता। वह सबको अपना मानता हुआ सबके प्रति निरन्तर स्नेह का व्यवहार करता है। अपनी शील सम्पन्नता और पर-दुःख-कातरता के कारण वह अन्य प्राणियों के लिये आकर्षण का केन्द्र बन जाता हैं। विश्व कल्याण उसके जीवन का आदर्श रहता है। वह विषपायी बन कर जन-जीवन को अमृत-दान दिया करता है। संतों की व्याख्या करते हुए कबीर का कथन है :—

निरबैरी निहकामता, साईं सेती नेह।
विषया सूं न्यारा रहे, संतनि का अंग एह॥
संत न छोड़ै संतई, जो कोटिक मिलै असंत।
चन्दन भुवंगा बैठिया, तऊ सीतलता न तजन्त॥

संत भगवद्भक्ति के वाह्याचार के प्रति आस्था नहीं रखते। भक्ति के साधन-यज्ञ, पूजा पाठ, व्रत दानादि उनके लिये सब कुछ नहीं है। यह सब तो भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था के रूप हैं। सत जन अन्तःसाधना पर विशेष बल देते हैं। साधना का यह मार्ग गुरु की अपेक्षा रखता है। समस्त मानव जाति को प्राप्त होने वाला ज्ञान उसकी अर्जित सम्पत्ति के रूप में है। अर्जन-क्रिया में जो भी व्यक्ति सहायक होता है उसे भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत गुरु की संज्ञा प्राप्त हुई है। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय इस बात पर एक मत हैं कि आध्यात्मिक ज्ञान की

उपलब्धि गुरु के बिना असम्भव है। हमारे यहाँ गुरु को देव-पदवी प्राप्त हुई है—

"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।"—श्वेताश्वेतरोपनिषद्-

भगवती गीता शारीरिक तप के अंतर्गत गुरु पूजन का आदेश देती है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥१७।१४

'गुरु' शब्द का अर्थ है अन्धकार का निरोधक (गु=अन्धकार+रु=निरोधक) जो अंधकार का विनाश करता है वही सच्चा गुरु है। संत कबीर भी गुरु के महत्त्व को स्वीकार करते हुए उसे ब्रह्म रूप में ही देखते हैं—

गुरु गोविन्द तौ एक है, दूजा यहु आकार।
आपा मेटि जीवत मरैं, तौ पावैं करतार॥

कबीर का विश्वास है कि गुरु से प्राप्त होने वाली उपदेश की प्रक्रिया वक्रता रहित होनी चाहिये, जिससे वह शिष्य के हृदय पर प्रभाव डाल सके, साथ ही शिष्य के हृदय को भी पूर्वाग्रह-रहित होना चाहिये जिससे वह गुरु के उपदेश को ग्रहण करने में सक्षम हो सके—

सत गुरु मार्‌या बांण भरि भरि, मरि कर सूधी मूठि।
अंग उघाड़ै लागिया, गई दवां सू फूटि॥

कबीर की यह मान्यता है कि उपदेश की पद्धति प्रेममय होनी चाहिए। समस्त विश्व प्रणव के प्रेम से बिंधा हुआ है, अतः गुरु का वही उपदेश प्रभावशाली हो सकता है जिससे शिष्य के कल्याण के प्रति अगाध स्नेह विद्यमान हो। इसीलिये कबीर कहते हैं:—

सत गुरु लई कमाण कर, बाहन लागा तीर।
एक जु बाह्या प्रीति सूं, भीतर रह्या शरीर॥
सत गुरु हम सु रीझ करि, एक कह्या पर संत।
बरस्या बादल प्रेम का, भीग गया सब अंग॥

लक्ष्य पर पहुँचने के लिए जीवन की निश्चित गति होनी चाहिये । संकल्पों एवं विकल्पों की उलझन में पड़ा हुआ मानव-मस्तिष्क न तो अपना ही मार्ग निर्धारण कर पाता है और न किसी के जीवन का सहारा वन पाता है । उसकी संशयात्मक स्थिति ही उसके विनाश का कारण वनती है—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥—गीता ४।४०

कबीर का यह विश्वास है कि जिनके हृदय में गुरु का उपदेश विध गया है वे निश्चय संशयात्मक स्थिति से परे हो जाते हैं—

संशय खाया सकल जुग, संसा किनहु न खद्ध।
जे बेधे गुरु अष्षिरा, तिन संसा चुण चुण खद्ध ॥

कवीर शिष्य और गुरु के सम्वन्ध को वड़ा ही पवित्र मानते हैं। गुरु अपनी सम्पूर्ण ज्ञान-गरिमा द्वारा मायारूपी दीपक पर प्रेमवश पड़ने वाले नर-पतिंगों को वचाने की सतत चेष्टा करता रहता है। उसके जीवन का उद्देश्य ही है ज्ञान का प्रसार तथा अज्ञान का विनाश। शिष्य अपनी योग्यतानुसार गुरु-उपदेश को ग्रहण करता है । इसके लिये कवीर बाँसुरी के उदाहरण को प्रस्तुत करते हैं, यदि हमें स्वयं का ज्ञान है तो हम वाँसुरी द्वारा अनेक सुमधुर रागिनियों की सृष्टि कर सकते हैं अन्यथा नहीं। कबीरदास जी कहते हैं—

सतगुरु बपुरा क्या करै, जो सिष ही माहै चूक।
भावै त्यूं प्रमोधि लै, ज्यूं बंसि वजायि फूंक ॥

कवीर की साधना-पद्धति को यद्यपि उनकी स्वतंत्र चिन्तनधारा का परिणाम कहा जा सकता है, पर इसमें संदेह नहीं कि उसमें युगों की आध्यात्मिक चिन्तनधाराएँ समाविष्ट हैं । अतएव कवीर के साहित्य को समझने के लिये कवीर के युग तथा कवीर पर पड़ने वाले प्रभावों का ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि ये ही दो बातें उनके साहित्य के लिये पृष्ठभूमि उपस्थित करती हैं।

कबीर के समय में समस्त हिन्दू जाति पराधीनता की चक्की मे पिस रही थी। मुसलमानो का शासन दो ही बातें जानता था, या तो कुरान को अपना धार्मिक ग्रन्थ मान कर इस्लाम-धर्म को स्वीकार करो अन्यथा मौत के घाट उतरो। यद्यपि मुसलमानों से पूर्व भी भारतवर्ष पर विदेशी आक्रान्ताओं ने चढ़ाइयाँ की थीं; पर वे आए और लूट मार करके चले गए। इसलिये उनके आक्रमण इतने पीड़क नही रहे, पर मुसलमानों का आक्रमण केवल लूटमार तक ही सीमित न रहा। उन्होने भारत की पवित्र भूमि पर शासन भी किया और अपनी धार्मिक कट्टरता के वशीभूत होकर उन्होने हिन्दुओं को धर्मपरिवर्तन के लिये विवश किया, हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियों को नष्ट-भ्रष्ट किया तथा देवालयों के स्थान पर मस्जिदों का निर्माण करवाया। इस प्रकार कबीर के समय में राजनीतिक जीवन बड़ा ही विक्षुब्ध था, एक ओर आक्रामक जाति अपने विजयदर्प के कारण औचित्यानौचित्य को भूल रही थी और दूसरी ओर हिन्दू जाति अपनी प्राणों से प्यारी स्वतंत्रता को खोकर दिग्भ्रान्त हो रही थी। उसके हृदय में एक विचित्र मन्थन-उद्वेलन हो रहा था। हताश मन की खीझ कभी रोष को वरण करती तो कभी जीवन से दूर भागने का उपक्रम करती। प्रायः देखा जाता है कि पराजय के अवसर पर दोषारोपण के स्वर अधिक तीव्र हो जाते हैं और वर्ग-भावना बलवती हो उठती है। हिन्दू जाति का सामाजिक जीवन भी वर्गभेद की भावना से मुक्त न रह सका। समस्त हिन्दू जाति खण्डशः विभक्त होकर जीवन के विषादमय स्वरूप को प्राप्त कर रही थी। धार्मिक मतमतान्तर उग्र होकर विद्वेष की सृष्टि कर रहे थे। इसी समय धार्मिक क्षेत्र में स्वामी रामानन्द की अवतारणा हुई। इन्हीं के नाम से रामानन्दी सम्प्रदाय प्रचलित हुआ। स्वामी रामानन्द ने यह अनुभव किया कि जब तक वर्ण-व्यवस्था ऊँच-नीच की भावना का पोषण करती रहेगी तब तक जातिगत एकता स्थापित होना संभव नहीं है। और इस एकता के अभाव में परस्पर अशान्ति का

बना रहना स्वाभाविक है। इसीलिये उन्होंने समस्त वर्णों को एक भावभूमि पर लाने का प्रयास किया। उनका यह अटल विश्वास था कि प्रभु प्राप्ति के मार्ग में किसी वर्ण का व्यक्ति अग्रसर हो सकता है, क्योंकि साधना और प्रेम का स्थल हृदय है, जाति नहीं। जब मानव के अंतराल में प्रभु के प्रति भक्ति-भाव का उदय हो गया तो फिर वर्णों के ये बाहरी भेद किस काम के।

स्वामी रामानन्द ने उपासना की प्रक्रिया को सरलता की ओर उन्मुख करना चाहा जिससे सभी लोग उसका आनन्द ले सकें। संस्कृत सामान्यतः ब्राह्मण-वर्ग की भापा रह गई थी; लोकजीवन में उसका स्थान न था। अतः उन्होंने भक्ति के क्षेत्र में संस्कृत के स्थान पर लोक-भाषा का प्रचार किया।

स्वामी रामानन्द ने उपासना के क्षेत्र में निर्गुण एवं सगुण दोनों की मान्यता प्रतिपादित की। हम देखते है कि आगे चलकर वही भक्ति-भावना वल्लभाचार्य से प्रतिपादित होकर सूर तुलसी के काव्य में सगुण उपासना के रूप में प्रतिष्ठित हुई और कबीर के द्वारा उसने हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत निर्गुण भक्ति का रूप लिया। यदि हम यह कहें कि स्वामी रामानन्द की समाजगत एवं धर्मगत भावना के प्रचार और प्रसार में कबीर ने अपनी वाणी का प्रयोग किया तो कुछ अनुचित न होगा। संतों का जीवन आत्म-कल्याण के साथ-साथ लोक-कल्याण को भी विशेष महत्त्व प्रदान करता है। कबीर भी ऐसे ही संत हैं जिनकी दृष्टि लोकजीवन पर अधिक रही है। लोकजीवन के निर्माता का दृष्टिकोण एकांगी नहीं होता। वह अपने विचारों में समन्वय के सिद्धांत को स्वीकार करके चलता है। कबीर ने यही किया। उन्हें समस्त मानव जाति में फैली हुई विकृतियों का विनाश करना था, इसलिये उन्होंने बड़े धैर्य और गम्भीरता के साथ विभिन्न धर्मों की, परम्पराओं

वैष्णवभक्ति-पद्धति में कर्म-विपाक तथा पुनर्जन्म में आस्था प्रकट की गई है। कबीर की ऐसी कई साखियाँ हैं जिनमें पूर्वजन्म का उल्लेख पाया जाता है। यथा—

"देखा कर्म कबीर का, कछु पुरब जनम का लेख।"

कबीर ने वैष्णव-धर्म के अन्तर्गत प्रभु के अनेक प्रचलित नाम राम, हरि, केशव, गोविन्द, नारायण, विष्णु, कृष्ण, कमलाकांत, गोपीनाथ, शालिग्राम, माधव, जगन्नाथ आदि को निस्संकोच रूप से स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, उन्होंने नरसिंह, प्रह्लाद, ध्रुव आदि अनेक पौराणिक पात्रों को भी अपने मत-प्रतिपादन में विशेष स्थान दिया है। साथ ही, प्रकारान्तर से उन पौराणिक पात्रों का भी उल्लेख किया है जिनके द्वारा ब्रह्म की महत्ता प्रतिपादित होती है। इन सब बातों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कबीर एक कुशल उपदेशक की भाँति समन्वय के सिद्धान्त को मानते हुए अपने कार्यक्षेत्र में आगे बढ़े।

कबीर सर्वाधिक महत्त्व कर्म को प्रदान करते थे। वे लोकजीवन के बीच रहकर ही साधना की उच्चभूमि को प्राप्त करना श्रेयस्कर समझते थे। तथ्य यह है कि मनुष्य कर्म से कभी बच नहीं सकता। यह समस्त संसार कर्म का ही परिणाम है—

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

—गीता ३।१४

अतः कर्म करना जीवन की स्वाभाविक प्रकृति है—

नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

—गीता ३।५

कबीर भी कर्म को आत्मकल्याण एवं लोककल्याण का कारण मानते हैं। उनका कथन है—

कबीर जे धन्धे तो धूलि, बिन धन्धे धूलै नहीं।
ते नर बिनते भूलि, जिन धन्धे में ध्याया नहीं।।

उनका यह अटल विश्वास है कि—

काम मिलावै राम कूं, जे कोइ जाणै राखि।

कबीर की साधना का सर्व प्रधान अंग है आत्मदर्शन करना। आत्म-दर्शन की भूमिका में संचरण करते-करते जब ये कुछ आत्मविश्वासपूर्वक कह उठते हैं तब ऐसा लगता है उनकी वाणी अहंकार आविर्भूत है, यथा—

बालि कबीरा ले गया पंडित ढूंढ़ै खेत।

× × ×

जाका महल न मुनि लहैं, सो दोसत किया कबीर।

प्रस्तुत प्रसंग में यह विचारणीय है कि कबीर सदैव अपनी आत्मा के स्वर को ही मुखरित करते हुए पाए जाते हैं। वे जब इस प्रकार का कथन करते हैं तब उनका उद्देश्य राम की उस कृपा का उल्लेख करना होता है जो उनके भक्त को सतत प्राप्त होती रहती है। उनके जीवन की प्रत्येक उपलब्धि राम-कृष्ण की ही कहानी है। स्वयं कर्तृत्त्व का अहंकार उन्हें कभी भी विचलित नहीं कर पाया है। जीवन की महानतम उपलब्धियों के साथ ही साथ उनके स्वभाव में अत्यधिक दैन्य एवं नम्रता पायी जाती है। इस प्रसंग में उनकी निम्नलिखित साखियाँ द्रष्टव्य हैं:—

कबीरा कूता राम का, मुतिया मेरा नाउं।
गले राम की जेवड़ी, जित खैंचे तित जाउं।।

यह ठीक है कि उनकी बानियों-शब्दों में ऐसे स्वर अवश्य पाये जाते हैं जिनसे उनका पौरुष परिलक्षित होता है। पर इस सन्दर्भ में हमें सदैव यह ध्यान रखना चाहिये कि कबीर साधक भी है और सुधारक भी। साधना की भूमिका में प्रतिष्ठित होकर उनका दैन्य मुखरित हो उठता है—

हम देखत जग जात है, जग देखत हम जांह।
ऐसा कोई ना मिलै, पकड़ि छुड़ावै बांह।।

फाड़ि पुटोला धज करूँ, कामलड़ी पहिराऊँ।
जिहि जिहि भेषां हरि मिलै, सोइ सोइ भेष धराऊँ ॥

किन्तु जब वे पाखण्डों, कुरीतियों एवं जीवन की विकृतियों की ओर संकेत करते हुए निर्माण का विधान करते हैं तब उनका कार्य उस व्यक्ति की भाँति होता है जो राज-मार्ग प्रशस्त करने के पूर्व बीच के झाड़-झंखाड़ों को काटता-छांटता है। वे रूढ़ियाँ तथा अन्धविश्वास जो जातीय एवं सामाजिक जीवन को संकट ग्रस्त किये हुए हैं तथा शृंखला रूप में जीवन विकास-क्रम को अवरुद्ध किए हैं, उनके विनाश के लिए निश्चय ही कबीर का स्वर बड़ा तीव्र एवं परुष है। ऐसे ही अवसरों पर उनकी वाणी में दर्पादि के स्वरूप का भान होता है। यहाँ उनकी कठोरता बादाम की कठोरता है जो अपने अन्तराल में पौष्टिक तत्व को सन्निहित किए हुए है।

संत कबीर के कतिपय आलोचकों ने उन्हें वेद, शास्त्र आदि के अध्ययन का विरोधी माना है। पर तथ्य इससे नितान्त भिन्न है। कबीर करनी-आचरण पर विशेष बल देते हैं। आत्मकल्याण के लिये केवल शास्त्रज्ञान तब तक उपयोगी नहीं है जब तक वह ज्ञान हमारे दैनिक आचरण का अंग नहीं बनता। हमारा ज्ञान जब मस्तिष्क की भूमिका से हट कर हृदय की भूमिका में सतत संचरणशील रहता है तभी वह उपयोगी सिद्ध होता है। इसीलिए कबीर का कथन है :—

कबीर पढ़िबा दूरि करि, पुस्तक देइ बहाइ।
बावन आखिर सोधि करि, ररै ममै चित लाइ ॥

तुलसी ने भी इसी तथ्य पर बल दिया है :—

वाक्य, ज्ञान, विपुल भव पार न पावै कोई।
निसगृह मध्य दीप की बातिन तम निवृत नहिं होई ॥

कबीर की ही भाँति तुलसी का भी स्वर अवसर के अनुरूप सरस तथा परुष है।

जहाँ तक कबीर-साहित्य का काव्य सम्बन्धी तत्त्वों से सम्बन्ध है, स्पष्ट है कि कबीर ने काव्य-शास्त्र का नियमित अध्ययन नहीं किया था और न काव्य-गुणों से संवलित ग्रन्थ-रचना करना ही उनका उद्देश्य था। पर यदि हृदय की भाषा कविता बन सकती है, आत्माभिव्यक्ति को यदि हम काव्य सर्वोतम रूप प्रदान कर सकते हैं—तो हमें कबीर की रचनाओं में भी काव्यत्व प्राप्त हो सकता है। जहाँ वे जीवन की नीतिपरक व्याख्या करते है, खण्डन-मण्डन करते हैं, वहाँ उनका केवल सुधारक रूप व्यक्त होता है, कवि रूप नहीं; पर जहाँ उनकी विरही आत्मा पीव-प्रियतम प्रभु से मिलने के लिए तड़पती है, वहाँ उनकी तड़पन ही स्वतः कविता बन जाती है।

कबीर के काव्य-गुणों की अनभिज्ञता के सम्बन्ध में लोग जब उनकी पंक्ति 'मसि कागद छूयो नहीं कलम गही नहीं हाथ' उद्धृत करते हैं, तब मेरा ध्यान सहसा तुलसी की इस पंक्ति की ओर जाता है :—

"कवित, विवेक एक नहि मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।।"

इन दोनों कवियों की समान भाव-प्रदायिनी पंक्तियों का उल्लेख करके काव्य-सम्बन्धी तुला पर दोनों कवियों को समान रूप से प्रस्तुत करने का मेरा उद्देश्य नहीं हैं। मेरा अभिप्राय केवल इतना ही है कि कबीर-साहित्य मे उनके कवि रूप को न देखना उनके प्रति सम्यक् न्याय न होगा।

शताब्दियों उपरान्त किसी भी देश में ऐसे युग-पुरुष उत्पन्न होते है जो अपनी वाणी के सशक्त मुखर स्वर द्वारा लोकजीवन में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन करने में सक्षम होते हैं। कबीर ऐसे ही महापुरुषों में थे जिन्होंने भारत की इस पुण्यभूमि में अवतरित होकर यहाँ के इतिहास-निर्माण में अपना प्रभावशाली योग प्रदान किया।

डॉ० विद्यानिवास मिश्र

(जन्म-संवत् : १९८२)

डॉ० विद्यानिवास मिश्र हिन्दी तथा संस्कृत साहित्य के विद्वान् हैं एवं हिन्दी के ललित निबन्धकारों में आपका प्रमुख स्थान है। आपने हिन्दी साहित्य-सम्मेलन प्रयाग से प्रकाशित 'शासन शब्दकोश' के अतिरिक्त अन्य कोषों तथा कई पत्रिकाओं का सम्पादन किया है। आप वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के भाषाविज्ञान तथा हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रह चुके हैं। संप्रति के० एम० मुंशी रिसर्च इन्स्टीट्यूट के डाइरेक्टर हैं।

डॉ० मिश्र के निबन्धों का वैशिष्ट्य उनकी स्वानुभूति के अंकन में है, जिसमें वे अधिकांशतः प्राचीन संस्कृति के मधुर एवं सनातन पक्षों का उद्घाटन करते चलते हैं। कहीं-कहीं इतिहास को भी प्रत्यक्ष करते हैं। भाषा प्रवाहयुक्त तथा शैली भाव-प्रधान है।

'मुकुट, मेखला और नूपुर' निबन्ध में देश की प्राकृतिक तथा सांस्कृतिक अखण्डता के कुछ पक्षों की अभिव्यक्ति तथा स्वानुभूति की व्यंजना है।

डॉ० मिश्र की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं—

छितवन की छाँह, पंचशर, कदम की फूली डाल, मैंने सिल पहुँचाई, वसंत आ गया पर कोई उत्कंठा नहीं, शासन शब्दकोश, संविधान का मसौदा, भाषा-विज्ञान शब्दकोश, दर्शनशास्त्रीय पारिभाषिक कोश। प्रेमचन्द के उपन्यासों की भूमिका आदि संपादित ग्रंथों में आपका योगदान उल्लेखनीय है। हिन्दी के ललित निबंध-साहित्य को नया परिप्रेक्ष्य एवं आयाम देने में डॉ० मिश्र का चित्रण सर्वप्रमुख स्थान रखता है।

मुकुट, मेखला और नूपुर

⊙⊙

विन्ध्य के अंचल में मुझे आये दो संवत्सर से कुछ अधिक हो रहा है। मैं रुककर पीछे देखता हूँ तो सबसे पहले मेरा मन हिमालय के चरणों में बिछी हुई धानी तराई की स्निग्ध स्मृतियों में भींग-सा उठता है। मेरा जन्म उसी तराई की धरती में हुआ है और बचपन भी उसी के रस से सिंचित होकर पला है। यह सही है कि साल भर बाण और तुलसी की हिय लगी भूमि में रह कर भी इसके वन-निर्झरों में, इसके कला केन्द्रों में, सोन, नर्वदा, गोपद, बनास, केन, बेतवा और दशार्ण की पृथ्वी के हृदय से नदियों की चट्टानों के साथ अठखेलियों में और अतीत के अधखुले पृष्ठों सरीखें बोलते शिल्पों में रमा घूमा हूँ। मन इनमें घुलकर इसी से एक न हो सका। इसका कारण यह नहीं है कि मैं अपने को प्रवासी अनुभव करता हूँ बल्कि ठीक मुझे विपरीत उस अतीत के दुलार की धरती का इसमें पूरक दान मिलता है। जब-जब मैंने, कोसों दूर झाड़ियों और पथरीली चट्टानों के बीच में वसुधा के पक्ष से स्तन्य-पान करती हुई सरिताओं को देखा है तब-तब मुझे अनन्त और अपार जीवन का उमड़ाव लिए वे अधीर नारायणी सदानीरा, कौशिकी सरीखी नदियाँ याद आई है, जिनके प्रवाह-वेग में जाने कितने शत सहस्रजनों का विध्वंस प्रति वर्ष निहित रहता है। उनके अधैर्य की बराबर यहाँ उपशान्ति मिली है। जब मैंने ज्येष्ठ में धांय-धांय जलती छोटी-छोटी पहाड़ियों की चोटियों पर से खड़े हो करके तृणविहीन और धूसर भूमि का फैलाव निहारा है, तब तब मुझे हिम-शैल-मालाओं का स्वर्णरंजित अनन्त सौभाग्य और वैसाख-जेठ में गलते हुए हिमपिण्डों के उमड़ाव से लहराते हुए साठी (षष्ठि) धान के झूमते खेत भी नजर आये

के प्रत्येक साम्राज्य के उदय और अस्त, प्रत्येक कला की उड़ान, प्रत्येक साहित्य की रचना को अपनी सीमाओं में जकड़ करके रखना चाहते हैं। मैं कम से कम काल की सीमा को लांघनेवाली सरस्वती की इन प्रसादियों को देश में सिमटाकर रखने के पक्ष में हूँ, क्योंकि मेरा विश्वास है कि छोटी प्रीति बड़ी प्रीति को जन्म न दे सके और बड़ी प्रीति भी ऐसी प्रीति को जन्म न दे सके जिसमें प्रीति पात्र कौन है, यह पहिचानना, यह अंगुलि-निर्देश करके बताना असम्भव हो जाये तो उसे मैं मनुष्य की दयनीय दुर्बलता मानता हूँ। मनुष्य की पहिचान निस्सन्देह ममता है, पर साथ ही मनुष्यता का मापदण्ड भी उस ममता का दान है। उस दान में जिसने कंजूसी की है, वह बौना बन कर रह गया है, और दान देना ही नहीं, दान लेना भी और इसलिए दान को भी समर्पण कर देना उसकी महत्ता है।

इस सम्बन्ध में मुझे एक कहानी याद आ रही है जिसके ऐतिहासिक सत्य-असत्य के सम्बन्ध में कुछ मतामत देने की आवश्यकता नहीं है, पर जिसका दार्शनिक सत्य अचल और ध्रुव है। यह कहानी है गोरखनाथ और मधुसूदन सरस्वती के भेंट की। गोरखनाथ अपने सात-सौ वर्षों की साधना को एक सिद्धि-शिला में पुंजित करके उचित पात्र की तलाश में भटकते-भटकते काशी के घाट पर पहुँचे। देखा, अद्वैत-वेदान्त के अन्तिम जाज्वल्यमान् नक्षत्र, भक्ति के अगाध सागर और विरक्ति के हिम-शिखर मधुसूदन सरस्वती घाट की सीढ़ियों पर बैठे-बैठे अपना संन्यास दण्ड गंगा की लोल लहरों मे एकाकार कर रहे हैं। इतनी बड़ी सिद्धि के स्वामी जिससे न जाने कितने विश्वों की सम्पत्ति खरीदी जा सके, न जाने कितने चमत्कारों को न्योछावर किया जा सके और न जाने कितने योगसाधकों को परिचय मात्र देने से पागल बनाया जा सके, भिखारी बनकर उस सन्यासी के सामने खड़े हुए—महाराज मुझे कुछ मांगना है, जवाब मिला, कहिए ! मै भी माँग कर आपकी माँग पूरी करने की कोशिश करूँगा, क्योकि माँग कर रखना मेरा तो व्रत ही नहीं है। गोरखनाथ

ने और विनम्र होकर कहा—"मेरी माँग आप ही से पूरी हो सकती है और उसके लिए आपको याचक बनने की जरूरत न पड़ेगी। मैं अपने ७०० वर्षों की साधना किसी उचित पात्र में न्यास करके यह शरीर छोड़ना चाहता हूँ ताकि नये सिरे से नये कलेवर से नई साधना में मैं लग सकूँ। मुझे भय इतना ही है कि यदि उचित पात्र न मिला तो मैं इस सिद्धि को लेकर भटकता रहूँगा। एक तरह से यह शरीर और साधना के लिए वेकार हो गया है और इसलिए यह सिद्धि भी अब मेरे जैसे निरन्तर साधक के लिए दुर्वह बोझ वन गयी है। मुझे समस्त जगतीतल में तुम्हीं एक सत्पात्र दिखे हो। मुझे निराश न करो।"

आचार्य मधुसूदन ने निस्संकोच भाव से उस शिला को ग्रहण कर लिया और ग्रहण करने के दूसरे क्षण उन्होंने गंगा की निर्मल धारा में विसर्जित कर दिया। पर आश्चर्य की बात यह है कि गोरखनाथ ने इसे अपमान नहीं माना। वल्कि ठीक उलटे इसे चौगुना सम्मान मान करके आनन्द विगलित होकर उन्होंने यह आशीष दी—"वत्स, इससे वढ़कर सुन्दर उपयोग तुम्हारे सिवाय कोई सोच भी नहीं सकता था। मैं स्वयं ऐसे उपयोग की कल्पना नही कर सकता था। तुम्हारा यह आदर्श न जाने कितने दूसरों को भी अमर बना देगा, मैं नहीं वता सकता।"

यह कहानी मुझे भारत के जीवन-दर्शन का सबसे बड़ा सत्य लगती है। और जव कभी किसी भी परस्पर आदान की वात आती है तो मै इस कहानी को बरबस याद कर लेता हूँ। आज भारत के विभिन्न राज्यों के बीच एक-दूसरे से बिछुड़ने की, एक-दूसरे से अलग रह कर मनोराज्य खड़ा करने की कल्पनाएँ वहुत जोर मार रही हैं और यह यहाँ के इतिहास के लिए नयी चीज नही है। मध्ययुग का इतिहास भी इसी करुणा से परिपूरित है। हाँ, अन्तर इतना अवश्य है और वह अन्तर और भी शोचनीय है कि मध्ययुग में विलगाव के केन्द्र व्यक्ति थे और इने-गिने व्यक्तियों की और उनके परिवारों की आन की रक्षा में देश के विभिन्न

अंग आपस में कट मरे, पर आज ऐसे बिलगाव की भावना व्यक्ति-समूहों में उठायी जा रही है क्योंकि ये समूह निस्पन्द है। मैं सोचता हूँ कि रवि ठाकुर के शब्दों में कोई कमल के इन शतदलों को कमल में असंलग्न होकर निहारने की कोशिश क्यों नहीं करता। क्या एक-एक दल नोच कर ट्रे में बिछा देने से ही उसकी सत्ता प्रमाणित की जा सकती है ?

विन्ध्य की विशेषताएँ केवल भारत का अलंकार बनने के लिए नहीं, बल्कि उसका हृदय बनने के लिए मुझे अधिक उपयुक्त लगी। क्योंकि आखिर समस्त शरीर के रक्त का आकर्षण-विकर्षण ही तो हृदय का काम है। भौगोलिक स्थिति से और ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह प्रदेश उत्तर और दक्षिण पूर्व और पश्चिम भारत का सन्धि-स्थल रहा है। आज एक सुसंगठित और चेतन इकाई के रूप में यह प्रदेश नयी शक्ति लेकर उठ रहा है तो केवल यही कामना है कि इस शक्ति का विनियोग गलत रास्ते में न हो। मैं जो कुछ देख सुन-सका हूँ उससे मुझे बस यही लालसा हुई है कि वसुमती के सोये हुए ये शक्ति-स्रोत समस्त भू-मण्डल में रस फैला सके। लोगों से अगस्त ऋषि वाली कहानी के बारे में कई बार सुना है और उससे लोगों की व्यथा भी कई बार अनुभव करने को मिली है पर मैं विन्ध्य के उस महान् विनय को अवनति मानने के लिए कभी तैयार नहीं हूँ। उसी प्रकार जिस प्रकार की तुलसी की दास्य-भक्ति को मनुष्य की कायरता मानने के लिए तैयार नही हुआ जा सकता है। शक्तिशाली की विनय, कायरता नही होती और हिमालय अपनी ऊँचाई में बड़ा है, सागर अपनी गहराई में बड़ा है। तो विन्ध्य अपने विनय के विस्तार में बड़ा है, ऐसा विस्तार जो संस्कृति के सभी कीर्ति-स्तम्भों को व्याप्त करके फैला हो।

❀